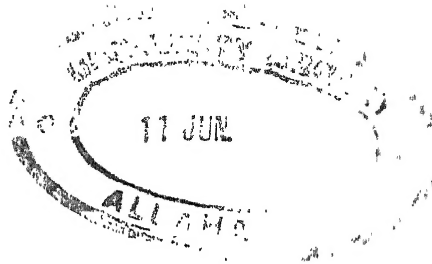
नवीन मनोविज्ञान और शिक्षा



लेखक

लालजी राम शुक्ल, एम० ए० बी० टी०

लेक्चरर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्रकाशक

ग्रन्थमाला कार्यालय

बाँकीपुर, पटना

प्रथम बार] २००१ [मूल्य २)

प्रवचन

संसार के प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को बालक के लालन पालन अथवा उसकी शिक्षा का भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। इस पुस्तक के अनेक पाठक माता या पिता अथवा शिक्षक होंगे। पर हम में से कितने थोड़े लोगों ने बालकों के भलीभाँति लालन पालन अथवा उनकी शिक्षा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया है।

मनुष्य की सन्तान पशु की सन्तान के सदृश अपने आप स्वावलम्बी नहीं बन जाती। उचित शिक्षा के अभाव में बालक की उन शक्तियों का विकास नहीं होता जिनके द्वारा वह संसार के अन्य प्राणियों के ऊपर अपना अधिकार जमा लेता है और जिनके कारण मानव जीवन श्रेष्ठ जीवन कहा गया है। बालकों को उचित शिक्षा देने के लिए शिक्षक को भी स्वयं विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। जिस प्रकार शरीरविज्ञान के जाने बिना कोई व्यक्ति डाक्टरी का काम ठीक से नहीं कर सकता, इसी तरह मनके स्वरूप और उसकी क्रियाओं के नियमों के जाने बिना कोई भी व्यक्ति शिक्षा का कार्य भलीभाँति से नहीं कर सकता। अतएव प्रत्येक शिक्षक को बालक के मन को अच्छी तरह जानना आवश्यक है। इसी तरह प्रत्येक माता और पिता को शिशु के मन को जानना आवश्यक है। शिशु-मनोविज्ञान के अज्ञान के कारण हम बालकों को जो हानि करते हैं उसका अंदाज़ लगाना कठिन है।

मनोविज्ञान ने आधुनिक कालमें विस्मयजनक उन्नति की है। इसकी एक शाखा जिसे "मनोविश्लेषण विज्ञान" (साइकोएनालैसिस) कहते हैं इतनी उन्नत हो गई है कि उसका प्रभाव अध्ययन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जाता है। मनो-विश्लेषण विज्ञान को ही "नवीन मनोविज्ञान" कहते हैं। इसका सबसे अधिक उपयोग मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की चिकित्सा में और बालकों की शिक्षा में हो रहा है। नवीन मनोविज्ञान के अध्ययन से जितना हमें बालकों के मन का ज्ञान होता है, दूसरे प्रकार से उतना ज्ञान होना सम्भव नहीं।

बालकों की शिक्षा-सम्बन्धी नवीन मनोविज्ञान के बड़े सफल प्रयोग पश्चिम के अनेक विद्वानों और शिक्षकों ने किये हैं। इसमें डाक्टर होमरलेन और नील महाशय के नाम अग्रगण्य हैं। उनके विचार बड़े महत्व के हैं। उद्दण्ड बालक को किस प्रकार हम प्रेम के द्वारा सुधार सकते हैं, निरुत्साह बालक का उत्साह कैसे जाग्रत कर सकते हैं, बालकों की बुरी आदतों को कैसे छुड़ा सकते हैं, बालकों में चरित्र के सुन्दर गुण कैसे विकसित किये जा सकते हैं—इन सभी बातों पर उनके विचार जानना माता पिता और शिक्षक के लिए उचित है। हम साधारणतः जो रीति बालक को सदाचारी बनाने अथवा सुधारने में काम में लाते हैं, उससे बालक, सदाचारी न बनकर दुराचारी बन जाता है, और सुधरने के बदले और भी बिगड़ जाता है।

जिन व्यक्तियों ने इस पुस्तक के लिखने में मुझे किसी प्रकार की सहायता और प्रोत्साहन दिया है, मैं उनका आभारी हूँ। इनमें मेरे मित्र पंडित सीताराम चतुर्वेदी, प्रोफेसर, टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, बनारस संसार के सम्पादक श्रीबाबूराव विष्णु पराड़करजी, और कालूलाल श्रीमाली प्रिंसपल टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, उदयपुर, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीमाली जी ने पहले पहल इस प्रकार की पुस्तक लिखने का विचार मेरे मन में पैदा किया। उन्होंने अपने पत्र "बालहित" में मेरे इस विषय पर अनेक लेख प्रकाशित किये। मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ।

अन्त में मैं अपने मित्र श्री वंशगोपाल झिंगरन (प्रिंसपल धर्म समाज कालेज, अलीगढ़) के प्रति उनके प्रेम और सद्भावना के लिए कृतज्ञता प्रगट करता हूँ। उन्होंने मेरी सभी कृतियों को अपनाया और उन्हें स्वयं पढ़कर और अपने शिष्यों और मित्रों को बताकर मेरा उत्साह बढ़ाया। यह ग्रन्थ प्रेमोपहार रूप उन्हें भेंट है—

टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज,
काशी विश्वविद्यालय, २७–१–४५ } लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

अ. संख्या	विषय			पृष्ठ
१.	बालक का स्वभाव	...	...	१
२.	शैशवावस्था	...	...	७
३.	बाल्यावस्था	...	...	३३
४.	किशोरावस्था	...	...	४२
५.	बालक की उद्दण्डता और अपराध		...	५३
	मनोराज्य	...	...	६९
६.	बच्चों के खिलौने और खेल	...	...	७७
७.	चरित्र-गठन	...	...	९१
८.	निर्देश	...	...	१०५
९.	आदतों का सुधार	...	...	११४
१०.	रचनात्मक कार्य	...	...	१३८
११.	होमरलेन का बाल-प्रजातन्त्र	...	...	१४८
१२.	बालक का हठ	...	...	१६०
१३.	विमाता की मानसिक ग्रन्थि	...	...	१६७
१४.	बालक का भय	...	...	१७३

प्र. संख्या	विषय		
१५.	बालक की नैतिक शिक्षा	...	...
१६.	मानसिक वातावरण का प्रभाव	...	...
१७.	सहानुभूति और अनुशासन	...	...
१८.	धर्म-शिक्षा	...	...
१९.	बालकों की शिक्षा और आत्मोद्धार		...

श्री वंशगोपालजी झिंगरन

(प्रिन्सपल, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़)

को

सादर समर्पित

पहला प्रकरण

बालक का स्वभाव

नवीन मनोविज्ञान की खोज

नवीन मनोविज्ञान* ने बाल-शिक्षा के ऊपर महत्त्व का प्रकाश डाला है। नवीन मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि प्रौढ़ लोगों को बालकों के मानसिक जीवन का बहुत कम ज्ञान रहता है। जिस प्रकार साधारण माता-पिता अपने बालकों के मानसिक जीवन के विषय में अनभिज्ञ रहते हुए भी अपने आपको सर्व-विद् मान बैठते हैं, उसी तरह साधारण शिक्षक भी बालकों के जीवन के विषय में पूर्णतः अपरिचित रहकर अपने आप को बाल-मन का पण्डित समझ बैठता है। वर्तमान समय के ट्रेनिङ्ग स्कूलों और कालेजों में मनोविज्ञान की कुछ शिक्षा दी जाती है, किन्तु यह मनोविज्ञान का ज्ञान इतना अपर्याप्त है कि इससे बाल-मन की कठिनाइयाँ समझने तथा उन्हें सुलझाने में शिक्षक को किसी विशेष प्रकार की सहायता नहीं मिलती। बाल-जीवन की अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, उदाहरणार्थ, बालक की उद्दण्डता, हठीलापन, चुगुलखोरी, झूठ बोलना, चोरी करना किताबें अथवा स्कूल का सामान बिगाड़ना, दूसरे लड़कों से

---

*नवीन मनोविज्ञान (New Psychology), मनोविश्लेषण या चित्तविश्लेषण विज्ञान का ही दूसरा नाम है।

झगड़ा करना, पढ़ाये विषय को भूल जाना, पढ़ाई के प्रति उदासीनता, बीड़ी या सिगरेट पीने की लत्त डाल लेना, दीवाल पर गालियाँ लिखना इत्यादि, जिन्हें बिना बाल-मन के गहरे अध्ययन के कोई शिक्षक उचित रूप से नहीं सुलझा सकता।

प्रत्येक शिक्षक बालक के दुराचरण का प्रतिकार दण्ड से करता है, किन्तु दण्ड सभी परिस्थितियों में बालकों को दिया जाना उसके आचरण-सुधार के लिए अनावश्यक ही नहीं, हानिप्रद है। नवीन मनोविज्ञान ने यह दर्शाया है कि बालकों के अनेक दुराचरण, अन्यमनस्कता अथवा कुण्ठित बुद्धि होने का कारण उनके अचेतन मन में स्थित कोई भावना-ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि को बिना समझे और उसके सुलझाये बालकों के साथ मनमाना व्यवहार करना उनके प्रति अत्याचार करना है। इससे बालक शिक्षित न होकर अधिक दुराचारी, आलसी और निकम्मा हो जाता है। बालक के ऊपर किया गया इस काल का अत्याचार उसके भावी प्रौढ़ जीवन को दुःखी बना देता है।

शिशुकाल का व्यक्ति के विकास में महत्त्व

नवीन मनोविज्ञान ने एक महत्त्व की बात यह दर्शायी है, कि बालक के व्यक्तित्व के विकास में उसके शिशु-काल का बड़ा ही महत्त्व है। बालक के पैदा होने से पाँच वर्ष तक उसके जीवन में जो संस्कार पड़ जाते हैं वे उसके जीवन-प्रवाह को एक विशेष ओर मोड़ देते हैं। जिस बालक का पाँच वर्ष की अवस्था तक लालन-पालन सुयोग्य-रूप से नहीं होता उसका सारा भावी जीवन कलुषित हो जाता है। अतएव बालक के भावी जीवन का विकास अधिकतर उसके पाँच वर्ष के लालन-पालन पर ही निर्भर रहता है।

किसी भी प्रौढ़ व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ अथवा उसकी रुचि उसके चेतन मन के विचारों पर इतनी निर्भर नहीं रहतीं, जितनी उसके अचेतन मन में स्थित संस्कारों पर निर्भर रहती हैं। हमारा चिन्तन, तर्क आदि भी अधिकतर हमारे अचेतन मन के संस्कारों के ऊपर निर्भर रहते हैं। एक व्यक्ति कविता में रुचि रखता है, उसके लिए कविता ही जीवन का सारभूत अङ्ग है। दूसरा विज्ञान के बिना जीवन को निस्सार समझता है। तीसरा तत्त्व-चिन्तन को ही जीवन का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ मानता है; तत्त्व-चिन्तन के विना वह जीवन को पशु-जीवन के तुल्य मानता है। किसी-किसी व्यक्ति की लगन पैसा कमाने में इतनी अधिक होती है कि वह पैसे के पीछे घर की यहाँ तक कि अपने स्वास्थ्य की भी कोई परवाह नहीं करता। कोई नाम के पीछे अपनी धन-दौलत को फूँक देता है, स्त्री, वाल-बच्चों को छोड़ देता है तथा दुनिया के अनेक भूखण्डों में दिन-रात दौड़ता रहता है। इसके विपरीत कितने ही लोग अपने आपको एक कोठरी में बन्द करके अपरिचित रहकर अपना जीवन व्यतीत कर देना चाहते हैं। जिनकी प्रमुख आकाङ्क्षा यही रहती है—

'झर जाने दो जीवन माली,
मुझको रहकर परिचयहीन।'

जो संसार के सामने आना विपति-ग्रस्त समझते हैं; जिन्हें दुनिया धोके की टट्टी सी दिखाई देती है। कितने लोग ऐसे मिलते हैं जो किसी प्रेयसी अथवा प्रिय के प्रेम में सदा विह्वल रहते हैं; वे अपने प्रेमी की अन्तर्ज्वाला से सदैव परितप्त दिखाई देते हैं। कितने ही व्यक्ति विवाह करना अथवा किसी के प्रेम में पड़ना अपने गले में फन्दा डालना

मानते हैं; जिनकी दृष्टि में स्वतन्त्र जीवन ही आदर्श-जीवन है। कितने पुरुष, स्त्री मात्र से घृणा करते हुए पाये जाते हैं, और कितनी ही स्त्रियाँ पुरुष मात्र से घृणा करती हुई पाई जाती हैं।

जब हम मनुष्यों के इस प्रकार के व्यवहारों का कारण ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं तो साधारणतः हम इनका कारण प्रौढ़ काल की ही किसी उद्वेगात्मक घटना को पाते हैं। इस प्रकार के कारण को पा जाने पर हम सन्तोष करके बैठ जाते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति से उसकी विशेष रुचि अथवा उसके असाधारण व्यवहार का कारण पूछें तो वह इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य बतावेगा। सम्भव है कि इसका कारण वह किसी विशेष प्रकार का प्रोत्साहन अथवा हृदय पर आघात करनेवाली कोई घटना बतावे; किन्तु उस व्यक्ति के बताये हुए ये कारण उसकी रुचियों तथा विशेष व्यवहारों के मूल कारण नहीं हैं। सम्भव है ये कारण ऊपरी कारण हों किन्तु मूल कारण दूसरे ही होते हैं। कभी-कभी मूल कारण व्यक्ति द्वारा बताये गये कारणों के ठीक विपरीत होते हैं। अपनी असाधारण चेष्टाओं का, व्यवहारों तथा रुचियों का व्यक्ति के चेतन मन द्वारा कारण बताया जाना प्रायः हेत्वारोपण* होता है। इस प्रकार का हेत्वारोपण कभी-कभी वास्तविक कारण के अज्ञान में अथवा वास्तविक कारण को छुपाने के लिए किया जाता है। अपने वास्तविक हेतु को मनुष्य कितना अधिक अपने आप से छुपाता है, इसके विषय में पहले कहा जा चुका है। मनुष्य के असाधारण व्यवहारों और रुचियों का मूल कारण उसके शैशव-कालीन उद्वेगपूर्ण अनुभवों में रहता है।

* Rationalisation.

बाल-जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ

मनोविश्लेषक वैज्ञानिकों ने सम्पूर्ण बाल्यजीवन को तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) शैशव* काल, जन्म से पाँच वर्ष तक।

(२) बालपन,† पाँच वर्ष से ग्यारह वर्ष तक।

(३) किशोरावस्था,‡ ग्यारह वर्ष से युवावस्था तक।

इनमें से प्रत्येक अवस्था में बालक का संवेगात्मक जीवन× भिन्न-भिन्न होता है और उसकी प्रवृत्तियाँ और इच्छाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। जो इच्छाएँ और संवेग बालक के शैशवावस्था में प्रबल होते हैं वे ही इच्छाएँ और संवेग उनके बाल्यकाल में प्रबल नहीं होते। इसी तरह बाल्यकाल की इच्छाएँ और संवेग शैशवावस्था की इच्छाओं और संवेग से भिन्न होते हैं। अतएव बालक के मानसिक विकास की अवस्था जाने बिना उसके किसी भी चेष्टा को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता है। जो व्यवहार शैशवावस्था में अनुचित नहीं समझा जाता वही बाल्यकाल में अनुचित समझा जाता है। शैशव में बच्चे का अपने माता-पिता के प्रति विशेष प्रकार का प्रेम और आकर्षण रहना स्वाभाविक है, किन्तु यही प्रेम और आकर्षण बालपन में बालक के मानसिक विकास के अवरोध का प्रदर्शक होता है। किशोरावस्था में बालक में स्वतन्त्रता की इच्छा तथा विद्रोह की प्रवृत्ति उसके मानसिक विकास में सहायक होती है, किन्तु इस प्रवृत्ति का शैशव या बालपन में उदय होना बालक के मानसिक विकास के लिए हानिप्रद होता है।

---

* Infancy. † Later childhood. ‡ Adolescence.

× Emotional Life.

बाल्यजीवन की विभिन्न अवस्थाओं में बालक के व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न भागों की प्रधानता होती है। चित्तविश्लेषण विज्ञान के मतानुसार बालक के व्यक्तित्व के तीन भाग हैं। पहला भाग उसकी मूल प्रवृत्तियों का बना रहता है, दूसरा उसके अहङ्कार का तथा तीसरा नैतिक मन का बना रहता है, जो बालक के माता-पिता के सम्बन्ध से मिलता है। बालक के व्यवहारों में विषमता इसलिए उत्पन्न होती है कि उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उसके मन के भिन्न-भिन्न भाग की प्रधानता होती है। बाल्यजीवन के पहले भाग में मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है, दूसरे भाग में अहङ्कार की होती है और तीसरे भाग में नैतिक मन की प्रधानता होती है।

बालक के जीवन में उसके मन के विभिन्न भागों में द्वन्द्व चला करता है। यह द्वन्द्व बड़ा ही क्लेशकारी होता है। इस द्वन्द्व का परिणाम दो लड़ने वाले भागों में किसकी शक्ति अधिक है इसपर निर्भर करता है। मान लीजिए, बालक के अहम् भाव और उसकी मूल प्रवृत्तिजन्य इच्छा में द्वन्द्व पैदा हो गया। यदि उसकी मूल प्रवृत्ति जन्य इच्छा अधिक प्रबल है तो वह अहम् भाव के दबाव को अलग कर देगी, और मनमानी तृप्ति पाने की चेष्टा करने लगेगी। किन्तु यदि अहम् भाव की प्रबलता हुई तो मूल प्रवृत्ति जन्य इच्छा दबा दी जायगी। बालक के उपर्युक्त तीनों मनोविकास की अवस्थाओं में इतना भेद है कि उनका अलग-अलग विचार करना आवश्य प्रतीत होता है।

दूसरा प्रकरण

शैशवावस्था

शिशु का परावलम्बन

शिशुकाल में मनुष्य का बच्चा दूसरे जानवरों के बच्चों के समान होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य का बच्चा स्वयं अपने आपकी रक्षा करने में पशु के बच्चे से भी अधिक असमर्थ रहता है। पशु का बच्चा अपनी माता के ऊपर थोड़े काल तक ही सर्वथा आश्रित रहता है। तदनन्तर वह स्वावलम्बी हो जाता है, किन्तु मनुष्य के बालक की स्थिति इससे पूर्णतः भिन्न है। मनुष्य का बालक साल भर तक अपनी माता का इतना आश्रित रहता है कि यदि उसकी माता उसे छोड़ दे तो वह मर जायगा। एक वर्ष के बाद भी बालक अपने आप पर निर्भर नहीं कर सकता। न वह भोजन प्राप्त करना जानता है न वह अपने आपकी रक्षा कर सकता है। उसे बिना माता-पिता की सहायता के चलना-फिरना, बोलना-चालना नहीं आता। जब तक वह अनुमानतः पन्द्रह वर्ष का नहीं हो जाता, वह प्रौढ़ों की सहायता पर ही निर्भर रहता है।

बालक की इस प्रकार अपने माता-पिता पर निर्भरता उसके मनोविकास में विशेष प्रकार का प्रभाव डालती है। बच्चा यह जानने लगता है कि उसकी माता ही उसे भोजन देती है, उसे छाती से चिपकाती है और अनेक तरह से सुख देने की चेष्टा

करती है। अतएव जब माता उसके पास से जाती है और उसे अकेला छोड़ जाती है, तो वह बड़े दुःख का अनुभव करता है। माता, बालक को भोजन देने तथा उसकी रक्षा करने के लिए आवश्यक है किन्तु बालक माता को भूख के समय अथवा आत्म-रक्षा के समय ही नहीं चाहता, वह माता के ऊपर प्रेम के लिए भी निर्भर हो जाता है; अर्थात् माता उसके प्रेम का आश्रय बन जाती है। बालक की मानसिक भूख जिसकी तृप्ति किसी व्यक्ति को प्रेम-प्राप्ति से होती है, उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि शरीर की भूख। शरीर की भूख की तृप्ति से शरीर का विकास होता है और मन की भूख की तृप्ति से मन का विकास होता है।

शिशु के प्रेम की भूख

पाठकों ने देखा होगा कि बच्चे को दूध पिला कर माता जब पलने पर लिटा देती है तो वह रोने लगता है। कभी-कभी बच्चा पलने पर पड़ा पड़ा रोता रहता है। जब माँ उसे उठा लेती है तो वह चुप हो जाता है। कभी-कभी जब माँ उसे उठा कर दूध पिलाती है तो वह दूध नहीं पीता। इससे यह स्पष्ट है कि बच्चा दूध पीने के लिए, अर्थात् भूख के कारण ही नहीं रोता है, वह माता के प्रेम के लिए भी रोता है। जब माँ उसे अपने पास से अलग करती है तो उसे दुःख की अनुभूति होती है। कभी-कभी इस दुःख का अनुभव इतना अधिक होता है कि वह शारीरिक यन्त्रणा से भी अधिक क्लेशकारी होता है। माता के अलग होने पर कभी-कभी बालक इतने जोर से रोने लगता है जैसे कि वह बड़ी शरीर-पीड़ा की स्थिति में रोता हो। जो माताएँ बालकों की इस पीड़ा का ध्यान नहीं

देतीं वे सब समय के लिए बालक को प्रतिभाहीन, अनुत्साही, तथा अन्यमनस्क बना देती हैं।

बालक की माता की छाती से लगे रहने की इच्छा उसके दूध पीने की इच्छा से पृथक् और स्वतन्त्र है। जिस तरह गाय अपने बछड़े को दूध पीते समय चाटती-चूमती है, माँ भी इसी तरह छाती से लगे हुए बच्चे को पुचकारती, हाथ फेरती, चूमती और चाटती है। ऐसी अनेक चेष्टाओं से वह बच्चे के प्रति अपना प्यार दर्शाती है। बच्चा इस प्रकार के माँ के प्रेम-प्रदर्शन का भूखा रहता है। माँ के प्रेम-प्रदर्शन से उसके मन में वैसे ही प्रबल संवेग उठते हैं जैसे कि हमारे मन में अपने प्रेमी से मिलने और उसके प्रेम के हाव-भाव देखने से उठते हैं। इतना ही नहीं, बालक का जीवन प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन से अधिक संवेदनात्मक होता है। विचार की वृद्धि संवेगों को कम करती है। जिस अवस्था में विचारों की कमी होती है संवेगों की प्रबलता होती है। शिशु में विचार करने की शक्ति होती ही नहीं। अतएव उसके संवेग प्रौढ़ व्यक्तियों के संवेगों की अपेक्षा कई गुने प्रबल होते हैं। बच्चा असहाय रहता है; रोने और मुस्कराने के सिवाय अपने संवेगों के प्रकाशन का उसके पास कोई साधन रहता ही नहीं। अतएव प्रौढ़ लोग बालकों की संवेगात्मक अनुभूतियों के सम्बन्ध में भारी भूल करते हैं; बच्चे के रोने की अधिक परवाह प्रौढ़ नहीं करते। इससे बच्चों के प्रति बड़ा अनर्थ होता है।

दाइयों द्वारा पालन

कितनी ही माताएँ बच्चों को खिलाने के लिए अथवा दूध पिलाने के लिए दाइयों को सुपुर्द कर देती हैं। यह बच्चे के

प्रति अत्याचार है। बच्चा उसी व्यक्ति की छाती से लगा रहना चाहता है जो उसके प्रति वास्तविक प्यार करता है। दाई के खिलाने से बच्चा सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी प्रेम की मानसिक तृप्ति दाई की गोदी में रहकर नहीं होती। कितनी ही दाइयाँ तो बिलकुल मूर्ख होती हैं; वे बच्चों को चुप करने के लिए उसे उछालती हैं, जोर से चिल्ला देती हैं। उनका मुख्य ध्येय बच्चों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन नहीं होता; उन्हें किसी प्रकार चुप करना मात्र रहता है। बालक अपनी असन्तुष्टि रोकर ही प्रदर्शित कर सकता है। इसका रोना दो प्रकार से बन्द किया जा सकता है—उसकी इच्छा की तृप्ति करके और भय दिखाकर। जैसा ऊपर कहा गया है उसकी एक प्रबल इच्छा प्रेमी की छाती से लगे रहने की होती है। इसे माँ ही भलीभाँति सन्तुष्ट कर सकती है। जब माँ का स्थान दाई ग्रहण करती है तो उसकी यह इच्छा अतृप्त ही रह जाती है, और जब बालक रोकर अपने असन्तोष को प्रकट करना चाहता है तो मूर्ख दाई बालक के हृदय में भय उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं के द्वारा उसका रोना बन्द कर देती है।

बालक के इस काल के भय अथवा प्रसन्नता के संस्कार उसके मन में दृढ़ता से अङ्कित हो जाते हैं और वे अदृश्य मन में सदा बने रहते हैं। एक वर्ष के बालक का भय उसे स्मरण नहीं रहता। वास्तव में चार वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव विरले ही मनुष्य को स्मरण रहते हैं। इतना ही नहीं जो अनुभव जितने अप्रिय होते हैं वे उतने ही स्मृति-पटल पर आने में रुकते हैं, किन्तु वे अदृश्य मन में रहते हुए भी सक्रिय होते हैं। जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं पर हमारे दबे हुए संवेग आरोपित हो जाते हैं। जिस बालक को

बचपन में बार-बार डरवाया जाता है उसमें भय की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। वह किसी भी नई परिस्थिति से डरने लगता है। किसी आगन्तुक से मिलने और उससे बातचीत करने का उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहता। वह प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखता है। वह आगन्तुक से भलाई प्राप्त करने की आशा न कर हानि प्राप्त करने का भय करता है।

इसके प्रतिकूल जिस बालक का लालन-पालन बचपन में प्रसन्नता के साथ होता है, वह संसार के लोगों को अच्छी दृष्टि से देखता है; उसकी सबके प्रति सद्भावना रहती है तथा उसे सब लोग भले दिखाई देते हैं। जैसा वह दूसरों को भला देखता है वह अपने आप भी भला बनाने की चेष्टा करने लगता है। जिस बालक को अपनी माँ का उचित प्यार प्राप्त हुआ है, जिसका लालन-पालन स्वयं माता ने अपने आप किया है जिसने धाय का दूध न पीकर अपनी माता का ही दूध पिया है, वह उत्साही, व्यवसायात्मक बुद्धिवाला, सच्चरित्र तथा समाज-सेवी होता है। उसके कार्य उसकी मानसिक आरोग्यता के प्रदर्शक होते हैं। वह जो कुछ करता है आत्म-स्फूर्ति के साथ करता है।

धाय की कुप्रथा

बालकों को दाइयों द्वारा खिलवाने की अपेक्षा धाय का दूध पिलाना और भी हानिकर है। भारतवर्ष के अनेक धनी घरों में यह प्रथा सी चल पड़ी है कि माताएँ स्वयं अपने बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यूरोप में इस प्रकार की प्रथा का विरोध आज से दो सौ वर्ष पूर्व फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक रूसो ने किया था। उसने अपनी 'इमील' और 'न्यू हेल्यूस' नामक पुस्तकों

में इसके कुपरिणामों को बताया है और इसका कठोर विरोध किया है। धाय कभी भी बच्चे के प्रति वह सद्भावना नहीं रख सकती जो माता अपने बच्चे के प्रति रखती है। जब माँ अपने बालक को दूध पिलाती है तो उसके उस समय चलने वाले विचार भी बालक के हृदय को प्रभावित करते हैं। ये विचार बालक के अदृश्य मन में बैठ जाते हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ विकसित होते हैं। दूध पिलाते समय माँ के हृदय में शिशु के प्रति अपूर्व प्रेम के भाव आते हैं। शिशु इन विचारों को अज्ञात रूप से उसी प्रकार ग्रहण करते रहता है जिस तरह कि वह उसके दूध को ज्ञात रूप से ग्रहण करता है। स्वयं माता यह नहीं जानती कि उसके विचारों का प्रभाव उसके स्तन से दूध पीने वाले बालक के मन पर हो रहा है। जब माँ चिन्ता, क्रोध अथवा भय की अवस्था में बालक को दूध पिलाती है तो उसके अवाञ्छनीय विचार वैसे ही बालक के अदृश्य मन में प्रविष्ट हो जाते हैं जैसे माता के सद्भाव उसके मन को प्रभावित करते हैं। साधारणतः माता जिस समय बालक को दूध पिलाती है, वह अपने अवाञ्छनीय विचारों से मुक्त हो जाती है, उसके हृदय में प्रेम के भावों की ही प्रबलता रहती है। और माता के प्रेमोद्गार सीधे बालक के मन में चले जाते हैं।

धाय के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी धाय के हृदय में अपनी स्वामिनी के बच्चे को दूध पिलाते समय वैसे प्रेमोद्गार नहीं हो सकते जैसे कि बच्चे की माता के हृदय में हो सकते हैं। बेचारी धाय तो अपनी रोजी के लिए ही बच्चे को दूध पिलाती है। यदि उसके मन में कोई अवाञ्छनीय विचार हो अथवा उसका हृदय किसी प्रबल संवेग से उद्विग्न हो तो ये विचार तथा संवेग बालक के अदृश्य मन को प्रभावित करते हैं।

इससे बालक के व्यक्तित्व के विकास में रुकावट पड़ती है। अस्तु, धाय कितनी ही अच्छी क्यों न हो वह बालक के लिए माँ का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती है। रूसो का यह कथन सत्य है कि 'धाय कदापि अच्छी माँ नहीं हो सकती, यदि वह अच्छी माँ होती तो धाय का काम नहीं लेती; तथा जो स्त्री स्वयं अपने बच्चे के लिए स्वभाविक प्रेम प्रदर्शन नहीं करती, उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह दूसरे के बच्चे के लिए उचित प्रेम-प्रदर्शन करेगी।'

स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ बच्चों को दाइयों के सुपुर्द कर देने की तथा धाय द्वारा दूध पिलाने की प्रथा भी चल पड़ी है। शिक्षित स्त्रियाँ घर के बाहर का काम करने लगती हैं। उन्हें सभा सोसाइटी में जाना, समय पर आफिस जाना आदि आवश्यक हो जाता है। कोई-कोई स्त्रियाँ तो बच्चों को धाय के सिपुर्द कर देश-भ्रमण तक करने चली जाती हैं। पाठक देखेंगे कि कुछ युवतियाँ अपने पति के साथ विलायत भी चली जाती हैं और अपने दुधमुँहे बच्चे को धाय के सुपुर्द कर जाती हैं। उनका इस प्रकार का व्यवहार बच्चे के मानसिक विकास के लिए कितना घातक है, उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है। जो माताएँ अपने काम करने के समय बच्चे को किसी ऐसे व्यक्ति के सुपुर्द कर जाती हैं जो उसे रखना नहीं चाहता अथवा जो उससे पिण्ड छुड़ाना चाहता है, वे बच्चे के प्रति अत्याचार करती हैं।*

---

*अभी हाल की बात है लेखक अपनी एक छात्रा को पढ़ा रहा था। यह छात्रा बी०ए० की परीक्षा में बैठने वाली थी। उसके छः माह का एक बच्चा था। जब माँ पढ़ाई-लिखाई का काम करती है तो नौकरानी इस बच्चे को सँभालती है। पढ़ाते समय नौकरानी अपने घर जाना चाहती

शिशु जब तक धाय का दूध पीता है माताएँ उसे धाय के सुपुर्द रखती हैं, जब उसका दूध पीना छूट जाता है तो वे चाहती हैं कि वह धाय के पास न जाय। बच्चा धाय के दूध पीने के कारण और उसकी छाती से चिपकने के कारण उस को प्यार करने लगता है। उसकी माँ यह नहीं चाहती। वह धाय से ईर्ष्या करने लगती है। और बच्चे को धाय के पास जाने से डाँटती है। इस प्रकार बच्चे को छुटपन से ही कृतघ्नता का पाठ पढ़ाया जाता है। यह बच्चा आगे चलकर अपने माता-पिता के प्रति भी कृतघ्न हो जाता है। वह संसार से सुख प्राप्त करना जानता है, उसकी सेवा करना अथवा अपने ऋण को चुकाना नहीं जानता।

बालक जितना ही छोटा होता है उसके जीवन के संस्कारों का महत्त्व उसके भावी जीवन-विकास में उतना ही अधिक होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्य के जीवन-विकास में उसके अचेतन मन की भावनाओं का महत्त्व उसके चेतन मन से अधिक होता है। शिशु का अधिक समय अचेतन अवस्था में जाता है जिस तरह की प्रौढ़ व्यक्ति का अधिक समय चेतन अवस्था में जाता है। पलने में पड़े हुए शिशु में संवे-

---

थी, और बच्चे को उसकी माँ के सुपुर्द कर देना चाहती थी। माँ अभी पढ़ रही थी कि उसने दाई से कहा, 'अभी आध घण्टा और ठहरो।' पढ़ने के बाद मैं बच्चे को ले लूँगी, और तू चली जाना। दाई इसपर भुनभुनाने लगी, किन्तु उसे बरवश बच्चे को रखना ही पड़ा। पाठक समझ सकते हैं कि दाई के मन में उस बालक के प्रति कितने क्रोध के तथा अशुभ विचार उठे होंगे। ऐसी स्थिति में बालक को दाई के समीप रखना कितना बुरा है।

दना ग्रहण करने की शक्ति होती है। उसे उद्वेगों की भी अनुभूति होती है किन्तु न उसमें अहंभाव रहता है और न विचार करने की शक्ति रहती है। जब बालक बोलने और चलने-फिरने लगता है तब भी उसमें विचार करने की शक्ति नहीं होती, और अहंभाव का भी बहुत ही कम विकास होता है। विचार करने की शक्ति और अहम् भाव के अभाव में चेतन मन की क्रियाएँ जीवन-प्रवाह के लिए महत्त्वहीन होती हैं। ऐसी अवस्था में बालक का जीवन विचार द्वारा सञ्चालित न होकर उसकी मूल प्रवृत्तियों अथवा उद्वेगों द्वारा ही सञ्चालित होता है। उसके जीवन में अचेतन मन की प्रधानता होती है। बालक के सभी अनुभव उसके अचेतन मन पर दृढ़ता से अङ्कित हो जाते हैं। जो भी उद्वेगपूर्ण अनुभव बालक को इस काल में होते हैं उसका प्रभाव सदा उसके जीवन पर बना रहता है। बालक में इन अनुभवों को स्मरण करने की शक्ति नहीं होती और न वे उसके प्रौढ़ जीवन में स्मरण होते हैं। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि बालक के मानसिक विकास में उसका महत्त्व नहीं है। बालक की ये अज्ञात अनुभूतियाँ ही उसके जीवन-प्रवाह को एक विशेष दिशा की ओर बहाती हैं।

जो बालक शिशुकाल में माता के प्रेम से वञ्चित रहता है अथवा जो शिशुकाल में अपने माता-पिता का जीवन भार रूप देखता है वह सांसारिक जीवन से ही उदास हो जाता है।*

---

* बुद्ध भगवान्, कबीर, स्वामी रामतीर्थ, हजरत ईसा का जीवन उक्त कथन को प्रमाणित करता है। इन तीनों महापुरुषों को अपनी माँ का दूध पीने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। उनके शिशुकाल की अङ्कित निराशा ने उन्हें संसार के प्रति उदासीन कर दिया।

अवहेलना के साथ पालित शिशु प्रतिभाहीन और निरुत्साही होता है। जिन बालकों को माता-पिता भार रूप मानते हैं उनमें आत्म-हत्या की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। वे बड़े होने पर सदा आत्म-यन्त्रणा ही भोगते रहते हैं। बात-बात में अपने को कोसा करते हैं।

जिन बालकों को अधिक लाड़ से रखा जाता है वे प्रौढ़ जीवन में अत्याचारी बन जाते हैं। लाड़ से रखा गया बालक दूसरों से अनुचित आशाएँ करने लगता है। वह दूसरों पर सदा अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। जब उसकी आशाओं पर आघात पहुँचता है अथवा जब दूसरे लोग उसका कहा नहीं मानते तो वह अत्याचारी बन जाता है। इस अत्याचार की प्रवृत्ति से उसके चरित्र में क्रूरता, निराशा, कायरता, निकम्मापन, हठीलापन, व्यभिचार आदि दुर्गुण आ जाते हैं।

हम कितने ही गरीब बच्चों को ऐसे देखते हैं जिन्हें गोदी में लेने को माँ को फ़ुरसत ही नहीं रहती। गुदड़ी में पड़े-पड़े रोते रहते हैं। कभी माँ को फ़ुरसत हुई तो दूध पिला जाती है। इसके अतिरिक्त वह उसकी कोई भी देख-भाल नहीं कर पाती। बच्चा रोते-रोते थक कर चुप हो जाता है। कभी-कभी माँ बच्चे को चुप कराने के लिए अफीम आदि का नशा करा देती है। बच्चे का थककर चुप होना उसके भावी मानसिक जीवन-विकास के लिए बड़ा हानिकर होता है। इससे वह सदा के लिए निराशावादी बन जाता है। अफीम देकर बालक को सुलाया जाना तो उसके शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है। गरीब लोगों के बच्चों की संख्या भी अधिक होती है, अतएव वे

उनका ठीक से लालन-पालन ही नहीं कर पाते। यही कारण है कि अधिक गरीब लोगों के बालकों में प्रतिभा का उदय होना कठिन होता है। यदि गरीब घरमें पला शिशु पीछे पढ़ने लिखने की सब प्रकार से सुविधा भी प्राप्त कर तो भी उसका जीवन वैसा विकसित नहीं होता जैसा कि मध्यम श्रेणी के बालक का जीवन विकसित होता है।

जिस प्रकार अति निर्धन घर के शिशु का लालन-पालन ठीक से नहीं होता इसी तरह धनी घर के बालक भी अधिक लाड़ से बिगड़ जाते हैं। वे अपने बालकों को गुड़िया की भाँति खिलाते रहते हैं। उनके लिए बालक एक मनोरञ्जन की वस्तु हो जाता है। बालक की वास्तविक आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देकर वे उसको अपनी इच्छानुसार अनेक तरह से सुखी बनाने की चेष्टा किया करते हैं। बालक जो कुछ माँगता है उसे वे तुरन्त देते हैं; वे बालक का थोड़ा भी रोना सह नहीं सकते। इसका परिणाम यह होता है कि बालक अपनी मनमानी कराने के लिए रोने का अस्त्र ग्रहण कर लेता है। बालक के इस अस्त्र से माता-पिता परास्त हो जाते हैं। इस तरह बालक अपना दूसरों पर प्रभाव जमाने का आदी बन जाता है। उसकी यह लत्त उसके भावी जीवन के समुचित विकास में बाधक बन जाती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे बड़े घर की सन्तान को निकम्मी होने का कारण स्पष्ट हो जाता है। शिवाजी जैसा देश-भक्त व्यक्ति तैयार करने के लिये जीजाबाई जैसी माता की आवश्यकता है। शिवाजी ने अपनी माँ का दूध पिया था और माँ के द्वारा कही हुई पूर्वजों की कथायें सुनी थी। उदयसिंह राना संग्रामसिंह के पुत्र थे, किन्तु जहाँ संग्रामसिंह एक महान्

वीर योद्धा थे, उदयसिंह रणस्थल में जाने से डरते थे। चित्तौर पर चढ़ाई होने के समय वे चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल और पुत्ता के हाथ छोड़कर अपनी जान बचा जङ्गल में भाग गये थे। जब हम उदयसिंह की इस प्रकार की कायरता का कारण ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं तो हम इसे धाय द्वारा दूध पिलाये जाने और पाले जाने में ही पाते हैं। पन्नादाई कितनी ही स्वामिभक्त सदाचारिणी क्यों न हो एक क्षत्राणी के समान साहसी नहीं हो सकती। उसके हृदय में भीरुता के भाव के सिवाय दूसरे प्रकार के भावों का होना सम्भव नहीं, यही भाव धाय का दूध पीते समय उदयसिंह के अदृश्य मन पर अङ्कित हो गये। अतएव परिणाम जो होना था हुआ।

बालक के सच्चरित्र देश-सेवक और वीर होने के लिये पिता की अपेक्षा माता में इन गुणों की रहने की कहीं अधिक आवश्यकता है। धाय द्वारा पाले गये बालक का सदाचारी होना दुष्कर तो है ही, मूर्ख, दुराचारी, भीरु माता द्वारा पाले गये बालक का भी सुयोग्य होना कठिन है। माता की भीरुता और दुराचार की प्रवृत्ति अज्ञात रूप से बालक के मन में पैठ जाती है। इसके कारण बालक की प्रवृत्ति स्वभावतः ही ही विशेष प्रकार की बन जाती है।

शिशु की ईर्ष्या

नवीन मनोविज्ञान ने शिशु की ईर्ष्या की मनोवृत्ति पर विशेष प्रकार का प्रकाश डाला है। शिशु माता का अविभाजित प्रेम चाहता है। वह नहीं चाहता कि कोई भी व्यक्ति उसके इस प्रेम का बटवारा करे। अतएव घर में जब दूसरे बालक की उपस्थिति होती है तो पहले बालक के समक्ष

एक भारी मानसिक समस्या उत्पन्न हो जाती है। माता बड़े शिशु पर अपना पूरा प्यार नहीं देती। वह छोटे शिशु को अधिक प्यार करने लगती है। इसी प्रकार पिता के व्यवहार में भी परिवर्तन हो जाता है। शिशु देखता है कि जिस प्रेम का वह अकेला ही अधिकारी था उसे एक दूसरा बच्चा छीनने लगा। इतना ही नहीं कभी-कभी वह यह भी देखता है कि माता-पिता उससे भी अधिक उसके छोटे भाई या बहिन को प्यार करते हैं। इस तरह शिशु की अपने छोटे भाई या बहिन के प्रति ईर्ष्या की अग्नि और भी प्रबल हो जाती है। नये बालक के पैदा होते समय बड़ा बालक प्रायः तीन साढ़े तीन वर्ष का हो जाता है। वह टूटी-फूटी भाषा में अपने विचार भी प्रकाशित कर लेता है। मनो-विश्लेषण वैज्ञानिकोंने देखा है कि बड़ा बच्चा छोटे बच्चे के लिए बड़े अभद्र विचार रखता है।

अन्ना फ्रायड अपनी 'साइको एनालेसिस फार टीचर्स' नामक पुस्तक में लिखती हैं कि जब एक पिताने एक वर्ष की बच्ची को अपने छोटे भाई को बताया और उससे कहा कि यह कैसा अच्छा लगता है तो बालक के प्रत्युत्तर स्वरूप यह पूछा—'यह फिर कब वापस चला जायगा?'* छोटे बालकों के स्वप्नों का अध्ययन करके देखा गया है कि वे प्रायः अपने छोटे भाइयों के घर से चले जाने का स्वप्न देखते हैं। कभी-कभी वे अपने माता-पिता और सम्बन्धियों

---

* इसी प्रसङ्ग में अन्नाफ्रायड एक और बालक का दृष्टान्त देती हैं। एक माँ जब वह अपने सबसे छोटे बच्चे को दूध पिलाती रहती थी, उसका तीन वर्ष का बच्चा एक लाठी या दूसरी चीज उसके पास लेकर आता और उससे दूध पीते हुए बालक को मारने की चेष्टा करने लगता। माता को इस बालक को उसकी दुष्चेष्टा से रोकने में बड़ी कठिनाई होती थी।

के घर से चले जाने का भी स्वप्न देखते हैं। कहीं चले जाना और मरना बालक के लिए समान है। अतएव बालक का उक्त प्रकार का स्वप्न उसके दूसरों की मृत्यु की इच्छा का सूचक होता है जिसका कारण बालक की ईर्ष्या होती है। बालक अपने छोटे भाई बहिनको घृणा की दृष्टि से देखता ही है, जो उस बालक को प्यार करता है उससे भी वह असन्तुष्ट हो जाता है। यहाँ पर डम्भिल महाशय द्वारा "न्यू ऐरा" जुलाई १९२३ से उधृत निम्नलिखित दृष्टान्त उल्लेखनीय हैं।

'एक छोटी ९ वर्ष की बालिका को फ्रेञ्च पढ़ने में इसलिए कठिनाई हो गई कि वह उस भाषा के शब्दों के बहुवचन बनाने के नियमों को स्मरण कर नहीं पाती थी। इसके एक पाँच वर्ष की अवस्था वाला भाई भी था। इस बालक के पैदा होने के पूर्व उसने अपनी माता-पिता का अविभाजित प्रेम पाया था। इतना ही नहीं वह देखने में बड़ी खूबसूरत और नाजुक लड़की थी, अतएव वह माता-पिता की बड़ी लाड़िली थी। छोटा भाई बड़ा प्रसन्न चित्त बालक था वह अपनी बहिन का सब समय साथ देता और प्रसन्न रखने की हर समय चेष्टा करता था। इस प्रकार का व्यवहार उसका प्रारम्भ से ही था, किन्तु जिस समय बालिका को भाषा पढ़ने में कठिनाई हो रही थी उसका व्यवहार बदल गया था। वह अब बहिन से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगा और अपनी बहिन की छाया मात्र न बन कर माता-पिता का प्रेम और प्रशंसा पाने के लिए उसका प्रतिद्वन्द्वी बन गया। जिस समय बालिका को फ्रेञ्च पढ़ने की कठिनाई हो रही थी उस समय वह खुले आम इस प्रकार की चेष्टाएँ करता था जिससे कि उसकी बहिन की ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित हो। जब भोजन के लिए घर में मेहमान लोग

आते थे तो वह उनसे रेलगाड़ी का खेल खेलते समय पूछता था कि आप मेरे नाम की बोतल से शराब पीयेंगे या मेरी बहिन की नाम वाली बोतल से।

इस समय लड़की को ठीक तरह से नींद नहीं आती थी। और उसके आन्तरिक मन में भारी प्रतिद्वन्द्व चलता रहता था। इस बालिका का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। उसके स्वप्नों के विषय में पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि वह अकसर स्वप्न देखा करती है कि उसके सब सम्बन्धी और मित्र कहीं चले गये और वही अकेली छूट गयी। "चले जाना" बालक के स्वप्नों में मर जाने का बोधक होता है। अतएव बालिका के स्वप्न से यह स्पष्ट था कि वह अपने संबंधियों के मृत्यु की इच्छुक हो गई थी। मनोविश्लेषक को अब यह स्पष्ट हो गया कि बालिका को फ्रेञ्च भाषा के शब्दों के बहुवचन बनाने में क्यों कठिनाई होती थी। बालक का अदृश्य मन अर्थात् हृदय अनेकता नहीं चाहता था। बहुत से लोगों की उपस्थिति उसे असह्य थी। अपने से अतिरिक्त दूसरे लोग उसे बुरे लगते थे। अतएव वह अकसर उनके चले जाने का स्वप्न देखती थी, जो बालक की भाषा में मृत्यु का सूचक है। वही अकेली ही रह जाना चाहती थी जिसका कि बोधक एकवचन है।*

---

*ग्राउण्ड वर्क आफ साइकॉलॉजी पृष्ठ ४००—

पाठक सम्भवतः यह जानने को उत्सुक होंगे कि इस बालिका की मानसिक कठिनाई को कैसे हटाया गया। मनोविश्लेषक ने बालिका के स्वप्न अध्ययन द्वारा उसकी कठिनाई का वास्तविक कारण पहले जाना। बालिका अपने छोटे भाई से ईर्ष्या करती थी इसका ज्ञान स्वयं उसे नहीं था। यह ईर्ष्या उसके अचेतन मन में थी और उसका चेतन मन उसे

यह हमारे प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि बड़ा बालक माता-पिता का छोटे बालक के प्रति अधिक प्रेम-प्रदर्शन करना सह नहीं सकता। जब कभी लेखक अपने बच्चे मुन्नू को गोदी में लेता है तो शान्ति (उसकी बड़ी बहन) भी गोदी में बैठने के लिए आग्रह करती है। एक बार शान्ति को गोदी में लिये

स्वीकार करने को तैयार न था। जब किसी व्यक्ति का चेतन मन अपने अचेतन-मन में उपस्थित किसी दुर्भाव की स्वीकृति कर लेता है तो यह दुर्भाव मानसिक बीमारी का कारण नहीं होता, क्योंकि उससे कोई भावना ग्रन्थियाँ नहीं बनती। दुर्भावनाओं के दबाने में अथवा उन्हें भूत जाने की चेष्टा से ही भावना ग्रन्थियाँ बनती हैं जिनके परिणाम स्वरूप मानसिक बीमारी की उपस्थिति होती है। जिस समय व्यक्ति का चेतन मन अपने अचेतन मन में स्थित दुर्भावनाओं की स्वीकृति कर लेता है तो उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसके चेतन और अचेतन मन की विषमता मिट जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

उक्त बालिका अज्ञान मन से ही अपने भाई को घृणा करती थी किन्तु ज्ञात मन से उसके प्रति प्रेम-प्रदर्शन की चेष्टा करती थी। जब उसके हृदय की बात कुशलता पूर्वक मनोवैज्ञानिकों ने उसे दर्शायी और उसका अनौचित्य उसके समक्ष सिद्ध किया गया तो बालिका के मन में अपने भाई के प्रति वास्तविक प्रेम पैदा हो गया। ऐसा होने पर उसकी मानसिक कठिनाई जाती रही। उसे नींद भी ठीक से आने लगी और फ्रेंच भाषा भी याद होने लगी। ऐसी अवस्था में माता-पिता को भी बालकों के प्रति अपने व्यवहार बदलने की आवश्यकता होती है। उन्हें किसी विशेष बालक के प्रति अत्यधिक प्रेम-प्रदर्शन करने अथवा किसी बालक के प्रति लापरवाही का व्यवहार करने से अपने आपको सचेत रखना पड़ता है।

लेखक बगीचे में टहल रहा था। इसी समय मुन्नू भी आ गया। उसने भी गोदी में लिये जाने का आग्रह किया। जब लेखक उसे उठाने लगा तो शान्ति ने कहा, 'दो-दो कैसे बनेंगे'। उसका अभिप्राय यह था कि अकेले मुझे गोदी में रखो, मुन्नू को न लो। अक्सर मुन्नू लेखक के पास सोता है; शान्ति जब अलग बिस्तर पर सुला दी जाती है और जब कभी उसकी नींद रात में खुल जाती है तो वह चुपचाप रात में उठकर लेखक के पास सो जाती है। जब मुन्नू को नया कुरता या पैण्ट लिया जाता है तो शान्ति भी नयी फिराक और पैण्ट खरीदवाती है। जब मुन्नू साथ भोजन करता है तो शान्ति भी साथ भोजन के लिए आग्रह करती है।

बालक के इस प्रकार के ईर्ष्या के विचारों में धीरे धीरे परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु माता-पिता को भी अपने व्यवहारों में सचेत रहने की आवश्यकता है। जिस प्रकार उनका छोटे बालक के प्रति अधिक प्रेम-प्रदर्शन करना स्वाभाविक है, इसी तरह बड़े बच्चे का छोटे के प्रति ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक है। जो माता-पिता बालक की इस प्रकार की ईर्ष्या का उचित उपचार नहीं करते और उसे शैतानीपन मान बैठते हैं, तथा बालक को ताड़ना देकर उसकी ईर्ष्या का प्रदर्शन दबाने की चेष्टा करते हैं वे बालक के प्रति भारी अन्याय करते हैं। इस प्रकार के दमन से या तो बालक उदण्ड या दुराचारी हो जाता है अथवा वह निकम्मा और प्रतिभाहीन बन जाता है। जब भी बालक के व्यवहार में किसी प्रकार की विलक्षणता देखी जाय तो माता-पिता को उस बालक के साथ सावधानी से व्यवहार करना चाहिये। उसकी विषमता का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक बुद्धि से करना चाहिये। ईर्ष्या का प्रतिकार क्रोध

या भय से नहीं होता, प्रेम-प्रदर्शन और सहानुभूति से होता है। ईर्ष्या अमैत्री भावना की सूचक है। बालक के मन में अमैत्री भावना की उत्पत्ति प्रौढ़ लोगों के व्यवहार के कारण ही होती है। इस अमैत्री भावना का प्रतिकार मैत्री-भावना के अभ्यास से किया जाता है। मैत्री भावना का अभ्यास बालक द्वारा कराये जाने से उसकी क्रोध और ईर्ष्या की भावना शान्त हो जाती है। किन्तु बालक मैत्री-भावना को मन में ला सके, इसके लिए माता-पिता तथा अभिभावकों को मैत्री-भावना का वातावरण बालक के आस-पास बनाना होगा।

मैत्री-भावना के प्रदर्शन से बालक के व्यवहार में किस प्रकार चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है इसका एक सुन्दर उदाहरण अन्न फ्रायड ने अपनी साइकोएनालेसिस फार टीचर्स नामक पुस्तक में दिया है। इस उदाहरण से एक ओर ईर्ष्याकी गाँठ के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं, और दूसरी ओर कैसे उसका प्रतिकार किया जाता है यह भी प्रत्यक्ष होता है। साथ साथ यह भी जाना जाता है कि बालक को किस विधि से और किस प्रकार के शिक्षक द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिये। यहाँ पर बालकों के अचेतन मन की भावनाओं का चेतन मन के व्यवहारों से सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है।

एक १८ वर्ष की युवती ने घर में कलह रहने के कारण घर छोड़ कर एक धनी घर के तीन बालकों की अध्यापिका बनने का काम लिया। इनमें से मझिला बालक पाठ याद करने में सदैव पिछड़ा रहता था, वह दब्बू, एकान्त सेवी और बुद्धू सा दिखाई देता था। अतएव उसे पढ़ाना भी कठिन समस्या थी। घर में उसके विशेष आदर का स्थान न था और अपने दो तेज भाइयों की अपेक्षा सदा उपेक्षित दृष्टि से

देखा जाता था। इस बालक की इस प्रकार की स्थिति नयी अध्यापिका के उससे मिलने के पूर्व थी। इस अध्यापिका ने अपनी सारी शक्ति इस बालक को सुधारने में लगाना प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में उसने चमत्कारिक सफलता प्राप्त कर ली।

अब मझला बालक अपनी अध्यापिका को खूब प्यार करने लगा। वह उससे अपनी हृदय की सब बातें खोल कर कहता था, जैसा कि वह पहले किसी के समक्ष नहीं कहता था। पाठ याद करने में भी उसका उत्साह और रुचि बढ़ गयी। अपने परिश्रम से अध्यापिका एक ही साल में उन सब पाठ्य विषयों को पढ़ाने में समर्थ हुई जो कि साधारणतः बालकों को दो वर्ष में पढ़ाये जाते हैं। अब मझला बालक किसी प्रकार दूसरे बालकों से पिछड़ा नहीं रहता था। माता-पिता अब इस बालक से प्रसन्न रहने लगे। वे उसके विषय में अब अधिक परवाह करते थे। अपने भाइयों के प्रति भी उसका सम्बन्ध अच्छा हो गया। वे भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। थोड़े ही काल में यह बालक उस परिवार का सबसे महत्त्व का व्यक्ति माना जाने लगा।*

*साइको एनालेसिस फार टीचर्स सफा १०४

उपर्युक्त बालक में इस अध्यापिका ने इतनी रुचि क्यों दिखाई इसका कारण भी जानना बालक की दबी हुई भावना को समझने में बड़ा सहायक है। अतएव इस पाठिका के विषय में आगे कुछ बातें जानना भी आवश्यक है।

यह पाठिका उसी समय तक इस बालक में रुचि दिखाती रही जबतक कि वह बालक परिवार में अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि बालक के प्रति अवहेलना की दृष्टि रखने से उसकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है, और इस दृष्टि में परिवर्तन होने से उस प्रतिभा का अद्भुत विकास होता है।

था। जिस समय वह बालक सफल और प्रतिभाशाली माना जाने लगा, उसी समय से पाठिका उस बालक से उदासीन होने लगी। इतना ही नहीं वह पाठिका इस बालक से बात-बात में झगड़ने लगी और इसी बालक के कारण उसने उस नौकरी को छोड़ दिया। माता-पिता ने इस शिक्षक को रखने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वे सफल न हुए।

शिक्षक के इस प्रकार के विचित्र व्यवहारका कारण उसके बचपन के अवांछनीय संस्कार थे। यह अध्यापिका भी अपने घर में ऐसी ही अवहेलना की दृष्टि से देखी जाती थी जैसे कि उक्त बालक। किन्तु उसका अव्यक्त मन अपने परिवार के लोगों से क्रुद्ध था। जब शिक्षक ने एक ऐसे बालक को पाया, जिसकी कि परिवार में वैसी ही अवस्था थी जैसे उसकी बचपन में थी, तो उस बालक के साथ उसकी तादाम्यता हो गई। उस बालक को शिक्षक ने अपना दूसरा ही रूप मान लिया। उसका सुधार उसे अपना ही सुधार सा मालूम हुआ। बालक में चमत्कारिक परिवर्तन करके उसका अव्यक्त मन यह प्रमाणित करना चाहता था कि मुझे प्रतिभाशाली बनाने के लिए मेरे साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये था, जैसा कि मैं इस बालक के साथ कर रही हूँ। उसके अव्यक्त मन की यह बात उसे ज्ञात न थी। किन्तु बालक की उन्नति में अध्यापिका की रुचि और उत्साह का कारण यही अव्यक्त मन की भावना थी। किन्तु, जब बालक इतना सफल हो गया, जितना कि सफल वह स्वयं नहीं हो पाई थी, तो बालक से उसकी तादात्यता टूट गई। वह बालक की ईर्ष्यालु हो गई और वह उससे अलग रहना चाहने लगी।

ईडीपस काम्प्लेक्स*

जिस प्रकार शिशु अपने भाई बहनों से ईर्ष्या करता है इसी तरह वह अपने पिता अथवा माता से भी ईर्ष्या करता है। फ्रायड महाशय का कथन है कि लड़का माँ को अधिक प्यार करता है और लड़की पिता को अधिक प्यार करती है। किन्तु जब लड़का देखता है कि उसकी माँ अपना प्यार पिता को भी देती है तो उसे हार्दिक वेदना होती है। वह पिता से ईर्ष्या करने लगता है। बालक पिता को अपने से बड़ा पाता है अतएव संभवत वह यह सोचने लगता है कि पिता का बड़ा होना ही माता का पिता को अधिक प्रेम करने का कारण है अतएव वह पिता से भी अधिक बढ़ने की चेष्टा करता है। वह इस तरह पिता का अनुयायी और स्पर्धा करने वाला बन जाता है। कोई-कोई मातायें प्रत्यक्ष रूप से शिशु के प्रति पिता की अपेक्षा अधिक प्यार प्रदर्शित करती हैं। इसका एक यह अवांछनीय परिणाम होता है कि पिता का अदृश्य मन पुत्र से ईर्ष्या करने लगता है। कोई-कोई घरों में पुत्र की उपस्थिति ही पति-पत्नी में अनबन का कारण बन जाता है।

पिता पुत्र को अपने ढाँचे पर ढालना चहता है। वह अपने संस्कार बालक में अङ्कित करना चाहता है। जब बालक पिता के इस प्रकार के निर्देशों को ग्रहण नहीं करता तो वह उससे चिढ़ जाता है, और उसे मारता पीटता है। पिता का इस प्रकार का व्यवहार बालक के शैशव काल से प्रारम्भ होता है और उसके किशोरावस्था के अन्त तक बना रहता है। जब किसी बात के लिए पिता अपने पुत्र को डाँटता फटकारता है

*Oedipus Complex.

तो माता बिचवई करती है। वह पुत्र का पक्ष ले लेती है और उसे पिता के क्रोध से बचाने की चेष्टा करती है। माँ के इस प्रकार के व्यवहार से पिता का क्रोध बालक की माँ पर आरोपित हो जाता है। जैसे-जैसे लड़के की आयु बढ़ती है पति पत्नी की अनबनी भी बढ़ती चली जाती है। किन्तु वे ऐसी अवस्था में होते हैं कि एक दूसरे को छोड़ भी नहीं पाते। जहाँ ऐसी स्थिति है उस घर के बालकों के मन में अनेक मानसिक समस्यायें पैदा हो जाती हैं। ऐसे परिवार का बालक जटिल बालक होता है। इस परिवार का पिता भी प्रायः जटिल पिता होता है। जटिल माता अथवा पिता की सन्तान ही जटिल होती है।

जटिल पिता पुत्र से अपनी मनमानी बात करवाना चाहता है; वह उसे अपना गुलाम बनाना चाहता है। पिता का अदृश्य मन बालक को स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता। ऐसा पिता कोई भी ऐसी प्रतिभा, जो स्वयं उसमें नहीं है, बालक में नहीं बढ़ने देना चाहता। जटिल पिता कभी यह कल्पना नहीं कर सकता कि उसका पुत्र उससे भी अधिक योग्य और प्रतिभाशाली हो सकता है। अतएव अज्ञात रूप से वह बालक की उन सभी चेष्टाओं को दबाने का प्रयत्न करता है जिससे कि वास्तव में बालक प्रतिभाशाली हो सकता है। उसे आप कभी अपने पुत्रकी प्रशंसा करते न पायेंगे। जब देखेंगे तभी उसे बालक के कामों पर नुक्ताचीनी करते पायेंगे। बालक इस प्रकार की नुक्ताचीनी को अवहेलना की दृष्टि से देखता है अथवा उसके प्रति क्रुद्ध होता है। इस तरह पिता पुत्र में वैमनस्य बढ़ जाता है। जिसके परिणामस्वरूप बालक के मन में अनेक प्रकार की अवांछनीय ग्रन्थियाँ बन जाती है। इनमें से एक ग्रन्थि को डाक्टर फ्रायड ने "ईडिपस काम्पेलक्स" या पिता-

द्वेष की भावना ग्रन्थि कहा है। इस ग्रन्थि के परिणामस्वरूप पुत्र हृदय से एक ओर पिता से घृणा करता है और दूसरी ओर उसके प्रति आदर और श्रद्धा का भाव प्रदर्शित करता है। आदर और श्रद्धा उसके चेतन मन के कार्य रहते हैं, घृणा और वैर उसके अचेतन मन के भाव रहते हैं।

बालक के मन में अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ उसके ज्ञात और अज्ञात मन की भावनाओं की विषमता के कारण ही पैदा होती हैं। ये बीमारियाँ बालक के बचपन में ही नहीं रहतीं, किन्तु वे आगे चलकर भी व्यक्ति के प्रौढ़ जीवन में अपना कुपरिणाम दर्शाती हैं। जो बालक अपने पिता के दुर्व्यवहार के कारण उससे डरने लगता है, अथवा उसे घृणा और वैर की दृष्टि से देखता, वह प्रौढ़ जीवन में क्रूर अथवा डरपोक व्यक्ति होता है। पिता के प्रति बालक के जो भाव रहते हैं वे ही भाव वह आगे चलकर अपने से किसी भी बड़े व्यक्ति के साथ रखने लगता है। जो बालक अपने पिता को वास्तविक प्रेम और आदर की दृष्टि से देखता है, वह बड़ा होने पर अपने शिक्षक तथा आफिसर को भी वास्तविक प्रेम और सत्कार की दृष्टि से देखता है। इसी तरह जो बालक अपने पिता से डरता है वह अपने शिक्षक और आफिसर से भी डरता है; और जो पिता को घृणा की दृष्टि से देखता है वह शिक्षक और आफिसर को घृणा की दृष्टि से देखता है। ये अचेतन मन के भाव उस व्यक्ति को स्वयं नहीं मालूम रहते, क्योंकि हमारे चेतन मन के भाव ही हमें ज्ञात हो सकते हैं। इतना ही नहीं चेतन मन से अपनी वास्तविक धारणा को छिपाने के लिए व्यक्ति का अचेतन मन अनेक प्रकार के आवरण उपस्थित करता है। अतएव जो व्यक्ति अपने शिक्षक व आफिसर को जितनी ही घृणा की

दृष्टि से देखता है वह उतना ही अधिक ज्ञात रूप से उनके प्रति सम्मान प्रगट करता है। इसी प्रकार की मनोवृत्ति चापलूसी करनेकी बुद्धि की जनक होती है। कितने ही चापलूस अपना स्वार्थ साधने के लिए जानबूझ कर चापलूसी करते हैं और कितने ही चापलूस स्वभाव वस प्रतिष्ठित पुरुषों अथवा अपने से बड़े आफिसरों की चापलूसी करते हैं। उनके हृदय में ऐसे पुरुषों के प्रति स्वाभाविक भय और घृणा होती है, जिसका मूल कारण इडिपस काम्प्लेक्स है। इस घृणा और भय के प्रतिकार स्वरूप वे अनजाने ही अपने से बड़ों की चापलूसों में लग जाते हैं।

हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि*

जिस प्रकार पिता का पुत्र के प्रति अनुचित व्यवहार इडिपस काम्पलेक्स की जटिलता बढ़ा देता है, इसी तरह वह हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि को भी पैदा करता है, अथवा उसकी जटिलता को बढ़ा देता है। माता-पिता के कठोर व्यवहार से बालक के अचेतन मन में हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। पिता का दुर्व्यवहार बालक के मन में क्रोध उत्पन्न करता है। क्रोध विनाशात्मक मनोविकार है। क्रोध का लक्ष दूसरे का विनाश करना होता है। किन्तु, जब किसी कारण वश बालक क्रोध के उचित पात्र पर अपने मनोभावों का प्रदर्शन नहीं कर पाता, तो उसका क्रोध अपने आप पर ही आरोपित हो जाता है; अर्थात बालक अपने आप पर ही क्रोध करने लगता है। ऐसी स्थिति में बालक निराशावादी हो जाता है। इससे वह अपने आपको कोसने लगता है, और इसके परि-

* Inferiority Complex.

णाम स्वरूप उसके मनमें अपने प्रति हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता हैं। वह सदा के लिये निरुत्साही तथा निराशावादी हो जाता है। उसमें परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति भी नहीं रहती।

कभी-कभी हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि वाला व्यक्ति चमत्कारिक कार्य करने की चेष्टा करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी भीरुता को छिपाने के लिये अत्याधिक साहस प्रदर्शन करनेवाले कार्य करता है। वह वड़ी डींगें मारता है। उसके आदर्श सदा अप्राप्य रहते हैं। उसमें आदर्शवादिता की अत्यधिक प्रवलता होती है, किन्तु कार्य-क्षमता शून्य के बरावर होती है। जिस वालक के पिता का व्यक्तित्व जितना ही महान् होता है, उसके पुत्र में उतनी ही प्रहीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि होती है। जो वालक अधिक मारा-पीटा जाता है, उसमें एक ओर कायरता आ जाती है और दूसरी ओर वह क्रूर वन जाता है। आर्थर हेल्प्स महाशय का यह कथन मनोवैज्ञानिक सत्यसे पूर्ण है कि 'अत्याचारी व्यक्ति हृदय से गुलाम होता है। वास्तव में अत्याचार की मनोवृत्ति, गुलामी की भावना के प्रतिक्रिया-स्वरूप पैदा होती है।

मनो-विश्लेषण विज्ञान का कथन है कि जितनी जटिल समस्याएँ बालक के शैशव काल में उत्पन्न होती है उतनी दूसरे किसी काल में नहीं होती। शैशव काल में बालक की वृद्धि तीव्रतासे होती है, उसका जीवन विकाशात्मक रहता है। इस काल में उसकी अधिक समस्यायें प्रेम-सम्वन्धी होती हैं। फ्राइड महाशय के कथनानुसार वालक के शैशव काल का प्रेम ही उसकी किशोर अथवा प्रौढ़ अवस्था में काम भावना में परिणत हो जाता है। किन्तु हमे बालक के शैशवकाल के प्रेम को प्रौढ़ कालीन काम भावना न समझ लेना चाहिये। अवस्था-भेद के अनुसार

व्यवहार-भेद होना आवश्यक है। शिशु को अपनी माता की छाती से लगे रहना वाञ्छनीय है। किन्तु किशोर बालक का अपनी माँ की छाती से लगे रहना अनुचित है। बालक का अपनी माँ के प्रेम के ऊपर आश्रित रहना आवश्यक तथा स्वाभाविक है; किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति अथवा किशोर बालक को अपनी माँ के प्रेम पर आश्रित रहना अनावश्यक तथा अस्वाभाविक है। यह बालक के मनोविकास की रुकावट का प्रदर्शक है।

तीसरा प्रकरण

बाल्यावस्था

बाल्यावस्था की विशेषताएँ

बाल्यावस्था पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक रहती है। इस अवस्था को मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों ने शक्ति-संचय की अवस्था (लेटेन्सी पीरियड) कहा है। जब बालक की छः वर्ष की अवस्था प्राप्त करता है तो उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों की प्रबलता कम हो जाती है। न उसका जीवन उतना उद्वेग-पूर्ण होता है जितना कि शिशु का, और न वह शिशु जैसे मूर्खता के व्यवहार करता है। उसका मन शान्त दिखाई देता है। ऐसा जान पड़ता है मानो बालक अब प्रौढ़ होने जा रहा है। वह अपनी मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के लिए इतना उत्सुक नहीं रहता। इसे देख कर कभी-कभी माता-पिता यह भूल कर बैठते हैं कि बालक अब उनकी शिक्षा के कारण भला बन गया है, और उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हो गयी हैं। किन्तु प्रौढ़ लोगों को यह न भूलना चाहिए कि जो प्रवृत्तियाँ अब तक बालक के जीवन को उथल-पुथल कर रही थीं अब वे शान्त हो गई हैं, अथवा वे रही ही नहीं। वास्तव में वे न तो शान्त हुई हैं और न बालक के मन से चली गई हैं। वे थोड़े समय के लिए सो गयी हैं, किन्तु वे बालक के मन में पहले जैसे शक्ति के साथ विद्यमान हैं और थोड़े ही काल के बाद वे फिर जाग जायेंगी।

किशोर अवस्था में बालक की सुप्त जन्मजात प्रवृत्तियाँ फिर जाग उठती हैं। उस समय हम एकाएक देखते हैं कि बालक के जीवन में कामवासना की बड़ी प्रबलता है। हम यह सोचते हैं कि यह कामवासना बालक के मन में पहले पहल किशोर अवस्था में आई है, किन्तु वास्तव में यह प्रेम-भावना के उद्वेग की अनुभूति का दुहराना मात्र है। जिस उद्वेग का अनुभव बालक एक वर्ष से पाँच वर्ष तक की अवस्था तक करता है, उसी उद्वेग का अनुभव वह किशोर अवस्था में फिर करता है। बाल्यावस्था में थोड़े काल के लिए यह उद्वेग सुप्त अवस्था में रहता है। किन्तु बालक की अनुकूल अवस्था और परिस्थिति पाकर यह फिर बढ़ जाता है। किशोर अवस्था में बालक के जीवन में वे सभी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं जो शैशव काल में उपस्थित रहती हैं और बाल्यावस्था में दबी रहती हैं। नवीन मनोविज्ञान का कथन है कि बालक की किशोर अवस्था और शैशवअवस्था में बड़ी समानता होती है। इसी तरह उसके बाल्यावस्था और प्रौढ़ अवस्था में बड़ी समानता होती है। जिस तरह शिशु का जीवन उद्वेगपूर्ण होता है उसी तरह किशोर बालक का भी जीवन उद्वेगपूर्ण होता है।

बाल्य काल और शैशव काल दोनों में ही प्रेम-भावना की प्रधानता रहती है। किशोर अवस्था में प्रेमभावना कामवासना का रूप धारण कर लेती है और काम-चेष्टा के रूप में परिणत हो जाती है। बाल्यावस्था इन दोनों अवस्थाओं से भिन्न होती है। बालक का इस काल का जीवन प्रौढ़ जीवन से मिलता-जुलता होता है। जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति अपने उद्वेगों के ऊपर नियन्त्रण रख लेता है इसी तरह बालक

भी अपने उद्वेगों पर नियन्त्रण रखता सा दिखाई पड़ता है। जैसा ऊपर कहा गया है उसके उद्वेग प्रबल नहीं होते ; प्रौढ़ व्यक्ति के समान वह अपने मनोभावों में कम रुचि रखता है। वह बाहरी चीजों और व्यक्तियों में रुचि भी रखता है। वह इस समय अपने ज्ञान का भण्डार बढ़ाने की चेष्टा करता है। उसमें हठीलेपन की कमी होती है। जिस प्रकार की हठ शिशु अथवा किशोर बालक करता है वह नहीं करता है।

बालक का अपने शिक्षकों के प्रति सम्बन्ध

ऊपर दर्शाया जा चुका है कि शिशु का किस प्रकार का संवेदनात्मक सम्बन्ध अपने माता-पिता के साथ रहता है। बालकों के जीवन में उनकी शैशव अवस्था में प्रेम सम्बन्धी समस्याएँ उपस्थित रहती हैं। कितने ही बालकों के मन में इस काल में पिता के प्रति ईर्ष्या अथवा बैर का भाव रहता है। यदि बाल्यकाल और शैशव में पूर्ण समता होती, तो बालक के पिता अथवा माता के प्रति भाव ही अध्यापक अथवा आध्यापिका के ऊपर आरोपित होना स्वाभाविक होता। किन्तु बाल्य काल में वे संवेग प्रबल नहीं होते जो कि शैशव अवस्था में प्रबल होते हैं, अतएव बालक अपने शिक्षक को उसी दृष्टि से नहीं देखता जिस दृष्टि से वह माता-पिता को देखता है। न उसका अध्यापिका के प्रति उतना प्रेम रहता जितना कि अपनी माता के प्रति शैशव काल में रहता है, और न अध्यापक के प्रति वैसा वैमनस्य का भाव रहता है जैसा कि शैशव काल में पिता के प्रति था। इतना ही नहीं बालक का अपने माता और भाई बहिनों के प्रति भी भाव बदल जाता है।

शिशु अपने माँ के प्रेम के ऊपर पूर्णतः निर्भर रहता है, अब

यह निर्भरता धीरे-धीरे कम हो जाती है और बालक अपने व्यवहार में अधिक स्वतन्त्रता दर्शाता है। शिशु पिता को सर्व शक्तिमान मान बैठता है। बालक उसकी कमजोरियों को जानता है अथवा उन्हें जानने की चेष्टा करता है। उसकी अपने माता-पिता के व्यवहारों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रहती है। बालक की स्वतन्त्रता का आलोचनात्मक भाव जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती जाती है दृढ़ होता जाता है। समस्त बाल्य-काल भर वह माता-पिता के प्रेम से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता रहता है वह अब अपने प्रेमियों के परिधि का विस्तार कर लेता है। किशोर अवस्था में उसके प्रेम की परिधि फिर सङ्कुचित होने लगती है। किन्तु यदि किशोर अवस्था के अन्त तक कोई बालक अपने माता-पिता के प्रेम से स्वतन्त्र नहीं हो जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रेम भावना के लिए उन्हीं पर आश्रित रहता है तो हमें उसके मनोविकास को उचित नहीं समझना चाहिए। ऐसे व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं कहा जा सकता है।।मनोविकास की रुकावट की अवस्था में बालक की विभिन्न मानसिक अवस्था में वे ही लोग उसके प्रेम का आश्रय होते हैं जो उसके शैशवावस्था में थे।

आदर्शस्वत्व* का विकास

बाल्यावस्था में, जिसे नवीन मनोवैज्ञानिकों ने शक्ति-सञ्चय की अवस्था कहा है, आदर्श स्वत्व अथवा श्रेष्ठ अहम् (सुपरईगो) का विकास होता है। फ्राइड महाशय के कथनानुसार आदर्श स्वत्व का आधार बालक का शैशवावस्था का

---

* Super Ego.

माता-पिता के प्रति भाव है। शैशव अवस्था में लड़का एक ओर अपने पिता को प्यार करता है और दूसरी ओर उसे भय की दृष्टि से भी देखता है। शिशु का अपने पिता के प्रति आदर का भाव रहता है। आदर के भाव में सदा भय और प्रेम का सम्मिश्रण रहता है। जब आदर में भय की कमी होती है तो श्रद्धा और भक्ति में यह भाव परिणत हो जाता है, और जब आदर में प्रेम की कमी और भय की प्रबलता होती है तो यह भाव घृणा और वैर भाव में परिणत हो जाता है। जब बालक अपने पिता से स्वतंत्र होने लगता है तो उसमें अपने पिता के प्रति आदर अथवा किसी दूसरे प्रकार के भावों में शिथिलता हो जाती है। किन्तु इस शिथिलता के साथ-साथ बालक में आदर्श स्वत्व के भय का उदय होता है। अब बालक मानों अपने बाहरी पिता को छोड़कर अन्तर्यामी पिता की आज्ञा मानने लगता है। बालक की जैसी दृष्टि अपने पिता के प्रति होती है उसकी ठीक वैसी ही दृष्टि इस अन्तर्यामी पिता के प्रति होती है। इस अन्तर्यामी पिता को ही कर्तव्य शास्त्र के पण्डित विवेक (कान्सेन्स) अथवा ईश्वर की वाणी कहते हैं। यदि कोई बालक शैशव काल में अपने पिता को श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखता है तो वह बाल्य-काल और उसके पश्चात् भी अपने आदर्श-स्वत्व अथवा विवेक के नियन्त्रण में स्वभावतः रहता है। इसके प्रतिकूल यदि किसी कारण से बालक के हृदय में पिता के प्रति भय भावना की प्रबलता होती है तो वह आदर्श-स्वत्व अर्थात् विवेक के नियन्त्रण से बचने की अनेक प्रकार की चेष्टा करता है। उसके साधारण स्वत्व और आदर्श-स्वत्व में सदा द्वन्द्व चला करता है। ऐसा व्यक्ति जब कभी अपनी मूल प्रवृत्तियों के वश में होकर कोई अनुचित कार्य कर बैठता है तो

आदर्श स्वत्व की यन्त्रणा से बचने के लिए वह अनेक प्रकार की आत्म वञ्चना के उपाय रचता है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि माता-पिता के अलग होने से बालक पर उनके प्रभाव का अन्त नहीं होता। अब उनका प्रभाव सीधे न होकर परोक्ष रूप से होता है, प्रभाव की कमी नहीं होती। शिशु जब अपने माता-पिता के सामने रहता है तो माता-पिता के कहे अनुसार कार्य करता है। उसे उनकी सीधी फटकार तथा यन्त्रणा का भय रहता है। जब पिता-माता उपस्थित नहीं रहते तब उसे इस प्रकार का माता-पिता का भय नहीं रहता है और वह मनमानी करता है। किन्तु बाल-काल में बालक की मानसिक स्थिति दूसरी ही होती है, अब उसे पिता की अनुपस्थिति में भी वैसे ही काम करना पड़ता जैसा कि वह पिता की उपस्थिति में करता है। उसके मन में स्थित पिता अर्थात् उसका आदर्श स्वत्व सदा उसके साथ रहता है, और जब कभी वह कोई अनुचित कार्य करने लगता है तो यह आदर्श उसे तुरन्त फटकारने लगता है। जो शिक्षा बालक अपनी शैशव काल में बाहरी पिता से पाता है, वही शिक्षा बाल-काल में बालक अपने अन्तर्यामी पिता से पाता है। सुयोग्य बालक इस अन्तर्यामी पिता के प्रति बाहरी पिता से भी अधिक आदर दर्शाता है। जब वह कोई अनुचित कार्य करता है तो उसे आन्तरिक असन्तोष होता है और जब वह कोई उचित कार्य करता है तो उसे आन्तरिक सन्तोष होता है। बालक का अपने आदर्शस्वत्व के प्रति वैसा ही आचरण होता है जैसा कि उसके पिता के प्रति था; अर्थात् उसका आदर्शस्वत्व पिता समान दिखाई देता है। पिता के अभाव में बालक के बड़े भाई, दादा, अथवा अन्य किसी

व्यक्ति के सदृश बालक का आदर्शस्वत्व के प्रति भाव होता है। मनोविश्लेषण विज्ञान की दृष्टि से आदर्श शिक्षा वह है जिसके द्वारा बालक के साधारण स्वत्व का एक ओर उसकी मूल-प्रवृत्तियों के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाय, जिससे कि न उन्हें मनमानी करने दिया जाय, और न उन्हें एकदम बाँधा ही जाय, और दूसरी ओर उसके स्वत्व से आदर्श-स्वत्व का समझौता हो जाय, जिससे कि उसके स्वत्व और आदर्श स्वत्व में विरोध मिट जाय। उसका आदर्श स्वत्व उसके समक्ष असम्भव आदर्श न रखे; और उसका स्वत्व जो कुछ आदर्श स्वत्व के समक्ष रक्खे उसे चरितार्थ करने की चेष्टा करे। उचित शिक्षा का लक्ष्य एक ओर बालक में समुचित विवेक का विकास है और दूसरी ओर बालक को विवेकानुकूल आचरण की योग्यता प्रदान करना है।*

---

*फ्रायड महाशय का आदर्श स्वत्व के विकास का उक्त सिद्धान्त सर्वग्राही नहीं है। डा० फ्रायड का कथन है कि बालक का पिता ही उसका आदर्शस्वत्व बन जाता है। बाहरी पिता के प्रति जो भाव बालक का रहता है वही इस पिता के प्रति अर्थात् अपने आदर्शस्वत्व के प्रति हो जाता है। युंग महाशय की कल्पना के अनुसार आदर्शस्वत्व का भाव जन्मजात है, वह वातावरण के संस्कार जन्य नहीं है। वातावरण से उसका विकास मात्र होता है। फ्रायड महाशय की दृष्टि भौतिक विज्ञान की दृष्टि है, जो प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त प्रदत्तों पर आश्रित रहती है। इसके प्रतिकूल दार्शनिक दृष्टिकोण है। उसका आधार अन्तर्दृष्टि है। दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार बालक का पिता के प्रति श्रद्धा का भाव उसके हृदय में स्थित जन्मजात श्रद्धा के भाव का व्यक्त होना मात्र है। बालक के हृदय में जन्म से ही अच्छे और बुरे भाव रहते हैं; अर्थात् कुछ भाव कल्याणकारी होते हैं और कुछ अक-

पाँच वर्ष की अवस्था से बालक में अनेक प्रकार के प्रश्न करने की प्रवृत्ति एकाएक बढ़ती हुई दिखाई देती है। इस समय बालक की भाषा का विकास पर्याप्त हो जाता है। जैसे-जैसे बालक का भाषा-विकास होता है उसकी सोचने की शक्ति भी बढ़ती जाती है। अब बालक चुपचाप न रह कर अपने बराबरी के अनेक बालकों से मेल-जोल करने की चेष्टा करता है। उसकी बाहरी चीज़ों में रुचि बढ़ जाती है, वह उनके बारे में सोचता है। इस तरह उसकी अधिक मानसिक शक्ति बौद्धिक कार्यों में खर्च होती है। इससे यह स्वभाविक है कि उसका संवेगात्मक जीवन उतना प्रबल न हो जितना कि शिशु काल में था। बालक में इस काल में भाषा सीखने की

ल्याणकारी। वातावरण के सम्पर्क से ये भाव प्रकाशित तथा परिपक्व होते हैं। मनुष्य में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा अथवा प्रेम का भाव उसकी हृदय की प्रेरणा से होता है। यह प्रेरणा युङ्ग महाशय के कथनानुसार बालक के स्वभाव में विद्यमान समष्टि मन की उपस्थिति का प्रमाण है। जिस तरह मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन उसे स्वार्थ-परायण बनाता है उसी तरह उसका समष्टि मन उसे स्वार्थपरायणता से मुक्त कर परमार्थ की ओर ले जाता है।

फ्रायड महाशय की विचारधारा बहुत कुछ हरबर्ट स्पेन्सर महाशय की विचारधारा से मिलती-जुलती है, और युङ्ग महाशय की विचार-धारा टाम सहिल ग्रीन से। एक के अनुसार कर्तव्य-बुद्धि वातावरण-संघर्षजनित है और दूसरे के अनुसार वह मनुष्य के स्वभाव का अनिवार्य अङ्ग है। जिस प्रकार मनुष्य में विचार-शक्ति जन्मजात है, इसी तरह कर्तव्य-बुद्धि भी जन्मजात है। वातावरण इन दोनों शक्तियों का विकासमात्र करते हैं।

शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जिस विषय में हमें बालक को दक्ष बनाना है उसकी रुचि इसी काल में ही डालना आवश्यक है। यह काल प्राइमरी शिक्षा का काल है। दुनियाँ के उन्नत देशों में इस काल में बालक के पाठ-क्रम में अनेक विषय होते हैं। किशोरावस्था के आने पर बालक किसी विशेष विषय में अधिक रुचि दिखाने लगता है। अतएव इस काल में उसके पाठ्य-विषयों में से कुछ विषयोंको उसके भावी अध्ययन के लिए चुनना आवश्यक होता है। किशोरावस्था की रुचियाँ स्थायी होती हैं। बाल्यावस्था की रुचियाँ वैसी स्थायी नहीं होतीं। ऐसा इस काल में बालक के संवेगात्मक जीवन की कमी के कारण होता है।

चौथा प्रकरण

किशोरावस्था

किशोरावस्था की विशेषताएँ

ऊपर कहा जा चुका है कि शैशवावस्था और किशोरावस्था में बहुत समानता है। दोनों अवस्थाओं में संवेगों की प्रधानता होती है। किशोर का जीवन वैसा ही भावात्मक होता है जैसा कि बालक का। अतएव किशोरा वस्था को कभी-कभी दूसरी शैशवावस्था कहा जाता है। बाल्यकाल में बालक बहुत से बालकों से जान पहचान करता है। शैशवावस्था में उनमें से जिनसे उसका मन मिलता है, मैत्री स्थापित करता है। वह दूसरे बालकों की परवाह नहीं करता। जिस तरह शैशव काल में शिशु यदि वह लड़का है तो माँ को प्यार करता है और लड़की है तो पिता को प्यार करती है, इसी तरह किशोर बालक भी किसी एक ही बालक को अत्यधिक प्यार करता है। वह बालक समलिंगी होता है, किन्तु उसमें ऐसे गुण होते हैं जो उसके स्वभाव के पूरक होते हैं, जैसे सुशील बालक किसी चञ्चल बालक को चाहता है और चञ्चल सुशील को।

जिस प्रकार किशोरावस्था के पूर्व बालक वाह्य संसार के पदार्थों में रुचि रखता है उसी तरह; किशोर बालक अपने ही

विचारों में रुचि रखने लगता है। बाल्यावस्था में बालक बहिर्मुखी होता है, किशोरावस्था में वह अन्तर्मुखी हो जाता है। बालक का इस प्रकार अपने आप के विषय में अधिक चिंतित रहना उसे दुनियाँ में होने वाली घटनाओं से अलग कर देता है। यदि कोई व्यक्ति उसकी प्रशंसा कर दे तो वह अपनी प्रशंसा के विषय में अनेक दिनों तक सोचता रहता है। इसी तरह यदि कोई उसकी नुक्ताचीनी करे तो वह बड़े प्रबल संवेग के साथ क्रुद्ध होता है। उसे दूसरे की नुक्ताचीनी असह्य होती है। उसमें आत्म-प्रतिष्ठा का भाव प्रबल हो जाता है। अतएव जो व्यक्ति किशोर बालक को मारते-पीटते अथवा डाँटते-फटकारते रहते हैं वे उसे जीवन भर के लिए अपना दुश्मन बना लेते हैं। जिस प्रकार शैशवावस्था में बालक जिन लोगों को प्यार करता है उन्हें या उनकी प्रतिभा स्वरूप दूसरे लोगों को जन्म भर प्यार करते रहता है, इसी तरह अपनी किशोरावस्था में बालक जिन लोगों को प्यार या घृणा करता है, उन्हें अथवा उनसे मिलते-जुलते दूसरे लोगों को जन्म भर उसी भाव से देखता है जिस भाव से कि उसने ऐसे लोगों को किशोरावस्था में देखा था। जो व्यवसाय, पाठ्य-विषय अथवा अन्य पदार्थ बालक के इस काल में उसे रुचिकर होते हैं वे जीवन भर उसे रुचिकर बने रहते हैं।

किशोरावस्था जीवन की वसन्त ऋतु कही गई है। यह अवस्था मनुष्य की शक्तियों के कुसुमित होने की अवस्था है। बालक की रुचि, गति विधि देखकर हम यह पहचान सकते हैं कि उसके प्रौढ़ जीवन का प्रवाह किस ओर जायगा। होनहार बालकों का बड़प्पन उनकी किशोरावस्था में ही देखा जाता है।

काम वासना

किशोर अपने जीवन में पहले-पहल काम भावना के उदय की अनुभूति करता है। जैसे-जैसे उसके जीवन का अत्यधिक विकास होता है काम-भाव की अधिकता होती जाती है। यह काम भाव शिशु में भी होता है, किन्तु इसका ज्ञान उसकी चेतना को नहीं होता। शिशु का काम-भाव उसके हृदय की अनुभूति मात्र रहती है, जिसे न वह स्वयं जानता है और न उसे प्रकाशन की विधि ज्ञात रहती है। किशोर बालक को कामवासना के उदय का ज्ञान होता है। काम प्रवृत्ति ही उसके प्रेम-भाव को प्रबल बनाती है। वह बरवश अपने आपको किसी ओर को खिंचा पाता है। काम-वासना का उदय ही बालक को चञ्चल बना देता है और अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व उसके मन में पैदा करता है। संसार के बड़े-बड़े लोगों के जीवन में देखा जाता है कि उनकी शैशवावस्था में काम-वासना की असाधारण प्रबलता थी। सम्भव है, यदि वे अपने शैशव कालीन जीवन में काम-वासना की प्रबलता की अनुभूति न करते तो वे बड़े मनुष्य भी नहीं होते। उनके बड़े होने में इस वासना का प्रकाश तथा उससे उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व महत्त्व का स्थान रखता है।

उक्त सिद्धान्त की सत्यताका प्रमाण हम रूसो और महात्मा गान्धी के जीवन में पाते हैं। विरले ही संसार के महापुरुषों ने अपनी आत्म कथाएँ लिखी हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी आत्म-कथा लिखता है तो संसार के समक्ष अपने आप को नगण्य और त्रुटिपूर्ण प्राणी सिद्ध करने के लिए नहीं लिखता है, किन्तु वह अपनी महानता का कारण दर्शाने के लिए लिखता है। वह अपने आपको पहले से ही एक महान् व्यक्ति मान बैठता है। ऐसी स्थिति

में वह अपने जीवन की सभी ऐसी त्रुटिपूर्ण बातों को अप्रकाशित रखता है, जिनसे किसी प्रकार अपने प्रति जनता की श्रद्धा भङ्ग न हो। उसकी काम-वासना सम्बन्धी तथा अनुभव की स्मृतियाँ जान बूझकर नहीं तो अनजाने प्रकाशित होने से रोक दी जाती हैं। जो नियम साधारणतः अचेतन और चेतन मन के व्यापार में लागू होता है वही नियम आत्म-कथाओंके लिखते समय भी कार्य करता है। हम सदा अपने आत्म-ग्लानि के अनुभव को भुलाने की चेष्टा करते रहते हैं और दूसरों के समक्ष उन अनुभवों को स्वीकार रखने की हिम्मत कदापि नहीं करते। रूसो और महात्मा गांधी उन व्यक्तियों में से हैं जो अपनी त्रुटियों को सदा अपने आप स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं और दूसरों के समक्ष प्रकाशित करने में नहीं हिचकिचाते। अतएव इनकी जीवनियों (आत्म-कथाओं) का मनोविज्ञान की दृष्टि से जितना महत्त्व है उतना किसी दूसरे व्यक्ति की आत्म-कथाओं का नहीं है।

हम रूसो की आत्म-कथा (स्वीकारोक्ति) में उसकी किशोरावस्था में काम-वासना की प्रबलता देखते हैं। उसने तेरह साल के अवस्था से ही काम-वासना सम्बन्धी भूलें कीं। कभी-कभी अपने अविचार के कारण उसे भारी आत्म-ग्लानि होती थी। वह बचपन में एक बार किसी त्रुटि के लिए पीटा भी गया था। उसके इन अनुभवों का ही परिणाम है कि वह संसार का इतना महान् पुरुष हुआ। जब साधारण मनुष्य उसकी स्वीकारोक्ति को पढ़ता है, तो वह रूसो को एक महान् व्यभिचारी व्यक्ति पाता है और उससे घृणा करने लगता है, किन्तु यदि वास्तव में रूसो का जीवन घृणास्पद होता तो क्या वह गरीब लोगों के हितों का ऐसा

समर्थक होता जैसा कि हम उसे इतिहास में पाते हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का प्रमुख विधायक रूसो ही था। उसी के विचार आज भी रूपान्तरित होकर दीनों के अधिकारों की पुकार बन कर संसार के आर्थिक राज-नैतिक तथा सामाजिक जीवन को उथल-पुथल कर रहे हैं। शिक्षा-क्षेत्र में भी रूसो के समान मौलिक विचार देने वाला कोई भी शिक्षा वैज्ञानिक नहीं हुआ। सभी शिक्षा-सुधारों का अन्तिम स्रोत हम रूसो में ही पाते हैं। उसकी किशोरावस्था की पाठशाला-सम्बन्धी अनुभूतियों ने उसे बालकों की स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाला बना दिया।

महात्मा गांधी की आत्मकथा भी यह दर्शाती है कि वे अपनी किशोरावस्था में बड़े ही काम-लोलुप व्यक्ति थे। जब उनके पिता मृत्युशैया पर थे उनकी आयु सत्रह साल की ही थी। वे पिता की मृत्यु के दिन उनकी सुश्रुषा छोड़ कर भोगेच्छा की तृप्ति के लिए अपनी स्त्री के पास चले गये थे। इसी बीच में जब उनके पिता का देहान्त हो गया तो उन्हें अपने कृत्य से महान् आत्मग्लानि हुई। उनकी नैतिक भावना उन्हें ताड़ना देने लगी और इस बात का प्रायश्चित करने के लिए बाध्य करने लगी। उनका प्रौढ़ जीवन इसी एक प्रबल संवेगमयी घटना का प्रतिकार मात्र दिखाई देता है। उन्होंने सदा जीवन भर कामवासना को दमन करने की चेष्टा की। यदि उन्होंने किसी प्रकार भोग-विलास भी किया तो वह बरबश। वे भोगेच्छा से सदा ही द्वन्द्व करते रहे। उन्होंने कभी नहीं माना कि कामेच्छा शारीरिक भूख के समान साधारण स्वाभाविक इच्छा है, जिसकी तृप्ति ऐसी ही आवश्यक है जैसी कि भोजन की इच्छा की तृप्ति। यही कारण है कि उनके जीवन में अनेक प्रकार की विषमता

पायी जाती है। आज दिन तक उनके नैतिक मन और शरीर की इच्छाओं में अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है। एक ओर काम-इच्छा का दमन उनके बहुत से असाधारण कार्यों का श्रोत है, दूसरी ओर इसी इच्छा का दमन उनके मन में होने वाली आत्मग्लानि, प्रायश्चित की भावना तथा दूसरे अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व का कारण है। उनकी देश-सेवा ने भी परमपिता की सेवा का रूप धारण कर लिया है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्व के समय में पिता की सेवा में भूल का प्रायश्चित्त मात्र है। महात्मा गान्धी में जितनी धार्मिक भावों की प्रबलता देखी जाती है उतनी देश-भक्ति की नहीं है, और ये धार्मिक भाव भी क्रैस्ट की शिक्षा के अनुसार हैं; अर्थात् वे परम-पिता की सेवा का आदर्श अपने सामने रखते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा को उसी भाव से भजता है जिस भाव से उसके हृदय की कमी की पूर्ति होती है। जयदेव, भगवान् को प्रेमी के रूप में देखते हैं, मीराबाई पति के रूप में उनकी अनेक प्रेम-लीलाओं का वर्णन करती हैं, चण्डीदास और रामकृष्ण परमहंस माँ के रूप में देखते हैं, तुलसीदास स्वामी रूप में, सूरदास सखाके रूप में देखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी हृदय की कमी के अनुसार परमात्मा की कल्पना करते हैं, जो वास्तव में अपना ही आदर्शस्वत्व है और जिसका आरोप हम किसी विशेष प्रकार की कल्पना पर कर देते हैं। इसी नियम के अनुसार महात्मा गान्धी ईश्वर को पिता के रूप से भजते हैं।

कामवासना का दमन

समाज में कामवासना का प्रकाशन अनुचित समझा जाता है। किशोर बालक काम-वासना के प्रति समाज के इस प्रकार

केरुख का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव वह कामवासना सम्बन्धी चेष्टाएँ तथा बात-चीत छिपकर करता है। किशोरावस्था के प्राप्त होने तक बालक में आदर्श-स्वत्व का उदय हो जाता है। अतएव जब वह किसी प्रकार की काम-क्रीड़ा करता है तो उसे भारी आत्मग्लानि और मानसिक पीड़ा होती है। कितने किशोर बालक अप्राकृतिक रूप में वीर्यपात कर डालते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उन्हें भारी अन्तर्वेदना होती है; वे अपने आप को महान् पतित व्यक्ति समझने लग जाते हैं। कितने ही बालकों की हीनतासूचक भावना-ग्रन्थि काम-क्रीड़ा सम्बन्धी अनुभवों से पैदा होती है। वे अपने आप को घोर पापी मान बैठते हैं। किन्तु इस प्रकार की उनकी आत्म-यन्त्रणा से उन्हें आत्मबल लाभ नहीं होता। वे दिन प्रतिदिन अपने आप को अधिकाधिक निर्बल पाते हैं जब काम-वासना की उत्तेजना होती है तब वे काम-क्रीड़ा में लग जाते हैं, और पतन के पश्चात् आत्मग्लानि की अनुभूति करने लगते हैं। कुछ दिन के बाद फिर यही अनुभव दुहराया जाता है।

अब प्रश्न यह है कि बालक को इस प्रकार की मनोवृत्ति से मुक्ति कैसे किया जाय। साधारण धर्म-शिक्षक कहेगा कि बालक की नैतिक भावना दृढ़ करके; अर्थात् बालक को यह चेतावनी देना चाहिए कि वह इस प्रकार अपना पतन कर रहा है, और यदि वह ऐसे ही काम में लगा रहा तो अपना सर्वस्व खो बैठेगा। उसे कठोर नियन्त्रण में रखना चाहिए और जब कभी वह काम-वासना सम्बन्धी चेष्टा करे तो उसे दण्ड देना चाहिए। इतना ही नहीं बालक को अपने आप को दण्ड देने की शिक्षा देनी चाहिए। उसे सिखाना चाहिए कि जब कभी उससे कोई काम-वासना सम्बन्धी दुराचरण हो जाय

तो वह किसी प्रकार की शारीरिक यन्त्रणा का निर्माण करे और उसे भोगे। उदाहरणार्थ, वह प्रायश्चित स्वरूप मिठाई खाना छोड़ दे, फलाहार पर ही रहे, टाट या कड़े कम्बल पर सोवे अथवा लम्बे-लम्बे उपवास रखे। सम्भव है, इस प्रकार उसके हृदय में बैठा हुआ शैतान ताड़ना से डरकर भाग जाय अथवा निर्बल हो जाय, जिससे कि फिर वह बालक द्वारा व्यभिचार न करा सके जो अन्यथा होते हैं।

नवीन मनोविज्ञानिकों की शिक्षा इसके ठीक प्रतिकूल है। वे बालक की काम-क्रीडा की इच्छा को वैसा ही स्वाभाविक मानते हैं जैसे कि भोजन की इच्छा को। किशोर बालक को काम-वासना सम्बन्धी उचित ज्ञान देना आवश्यक है। बालक के जीवन में काम-सम्बन्धी जो कुछ बुराइयाँ होती हैं वे अभिभावकों की इसके प्रति दूषित दृष्टि-कोण के कारण होती हैं। यदि बालक की काम-वासना सम्बन्धी बातों को छुपाने की इतनी चेष्टा न की जाय जितनी साधारणतः की जाती है, तो उसकी न काम-वासना सम्बन्धी बातों में उतनी रुचि रहे जितनी वर्तमान अवस्था में रहती है और न उसे उतनी आत्म-यन्त्रणा ही भोगनी पड़े, जितनी कि एक साधारण बालक भोगता है और जिसके कारण अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियों का निर्माण होता है। इस प्रसङ्ग में ए० एस० नील महाशय के जटिल बालक सम्बन्धी निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं। नील महाशय अपनी 'प्राब्लम चाइल्ड' नामक पुस्तक में बालक की काम-वासना सम्बन्धी शिक्षा के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकाशित करते हैं—

"अधिक बालक अपने आप से काम-क्रीड़ा करते हैं। इस विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। किशोर बालक को

सहायता देने के लिए बहुत सी पुस्तकें वर्तमान हैं। किन्तु मैंने एक ही पुस्तक ऐसी देखी है जो उचित और लाभकारी है, दूसरी पुस्तकें तो केवल शिष्टाचार मात्र सिखाती हैं। वे कहती हैं कि काम-क्रीड़ा बुरी है, इसके कारण उन्नति रुक जाती है, और अनेक प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं, इन पुस्तकों का मुख्य लक्ष्य काम-क्रीड़ा को दबाना रहता है। पर वास्तव में काम-क्रीड़ा की प्रवृत्ति प्रधानतः शिष्टाचार की शिक्षा के कारण ही प्रबल हो जाती है। यदि सुशिक्षित माँ अपने शिशु के शरीर के गुप्त अङ्गों की जाँच-पड़ताल करने से उसे न रोके तो आगे चलकर उसकी जननेन्द्रिय छूने में रुचि ही न हो। शिशु को रोकने के कारण ही उसकी जननेन्द्रिय में रुचि बढ़ जाती है, जो आगे चलकर किशोरावस्था में काम-क्रीड़ा के रूप में प्रकाशित होती है।

"मनुष्य का व्यक्तित्व दो प्रकार के तत्त्वों का बना है। एक तत्त्व उसकी जीवन-शक्ति है जो ईश्वर ने उसे दी है। दूसरा तत्त्व नैतिक मन है, जिसकी उत्पत्ति शिक्षा से होती है। हम अपने प्रतिदिन के कार्यों में अपने व्यक्तित्व के दोनों भागों की तृप्ति की चेष्टा करते हैं। काम-क्रीड़ा में भी यही होता है। काम-क्रीड़ा से सुख की इच्छा तृप्त होती है किन्तु इस क्रीड़ा के तुरन्त ही बाद बालक का नैतिक मन उसे यन्त्रणा देने लगता है। नैतिकता व शिष्टाचार की शिक्षा बालक से कहती है तुम पापी हो। किन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि ज्योंही बालक की काम-क्रीड़ा के प्रति पाप-भावना हटा दी जाती है, उसकी काम-क्रीड़ा में भी रुचि नष्ट हो जाती है। काम-क्रीड़ा की उत्तेजना में पश्चात्ताप करने की इच्छा ही प्रधान अङ्ग है। बालक पश्चात्ताप करना चाहता है, इस-

लिए ही वह काम-क्रीड़ा में लगता है। आत्म-यन्त्रणा की इच्छा मनुष्य के बहुत से ऐसे कामों में प्रवृत्ति का कारण होती है जिसके कारण उसे अपने आपको कोसना पड़े।"*

आगे चलकर नील महाशय यह भी कहते हैं "काम-क्रीड़ा में अधिक रुचि रखने वाले वे ही बालक पाये जाते हैं जिनके आदर्श उच्च होते हैं। ऊँचाई और नीचाई सदा एक दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। जो चेतन मन से जितना आदर्शवादी होता है, उसका अचेतन मन उतना ही शारीरिक सुख का भूखा रहता है। देखा गया है कि महात्माओं को ही सबसे अधिक भोगेच्छा के स्वप्न होते हैं†। परन्तु यह कितनी विलक्षण बात है कि बहुत से माता-पिता अपने बच्चों का दुराचारी बनना पसन्द करेंगे, पर उनके काम-क्रीड़ा का प्रकाशन होना पसन्द न करेंगे। काम-क्रीड़ा के दमन से बालक में अनेक प्रकार के दुराचार की प्रवृत्ति पैदा होती है। झूठ बोलना, चोरी करना, सिगरेट पीना, आग लगाना आदि आदतें बालक की काम-क्रीड़ा के दमन की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हो जाती हैं।" स्टेकिल महाशय का कथन है कि काम-क्रीड़ा का दमन भयङ्कर प्रकार के पागलपने में परिणत हो जाता है। अपने आप से काम-क्रीड़ा करना दूसरे प्रकार से काम-वासना का प्रकाशन होना रोकने की चेष्टा के कारण होता है। कभी-कभी व्यभिचार की इच्छा का दमन ही अपने आप द्वारा

---

*1 A. S. Neill—*The Problem Child* P, 24.

† इस विषय में महात्मा गान्धी का अनुभव विचारणीय है। उन्होंने एक बार लिखा था कि मुझे अभी तक अर्थात् ६५ वर्ष की अवस्था तक स्वप्न-दोष होते हैं।

काम-क्रीड़ा में प्रकाशित हो जाता है। किशोर बालकों में अधिकतर दमन के कारण ही काम-क्रीड़ा की वृद्धि होती है।*

---

* इस प्रसंग में नील महाशय के निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं :—

"Let us be honest about it all; let us face the facts without prudery and hypocracy.—Let us abolish the dangerous *Verbot*. The world will be a better place, for there will be fewer self-haters in it. I write it without blasphamy that a child is nearer to God in masturbation than in repenting. Destroy the repenting component and we destroy the morbid compulsion to masturbate. The devil that we call moral instruction is the main cause of masturbation"—*The Problem Child* P. 35.

हमें चाहिए कि हम काम-क्रीड़ा के विषय में सचाई को स्वीकार करें और धोखेबाजी तथा झूठे शिष्टाचार को अलग करें, वस्तु स्थिति को देखें और इस भयानक दमन को हटा दें। तब दुनिया अब से अधिक सुन्दर बन जायगी, क्योंकि उसमें अपने आपको कोसने वालों की कमी होगी। मैं धर्म की निन्दा की इच्छा से नहीं किन्तु धार्मिक भाव से यह कहता हूँ कि बालक हस्तमैथुन करने में ईश्वर के ज्यादा नजदीक है अपेक्षाकृत पश्चात्ताप करने से। यदि हम बालक के पश्चात्ताप की प्रवृत्ति को नष्ट कर दें तो उसकी अवांछनीय हस्तमैथुन की प्रवृत्ति भी नष्ट हो जायगी। नैतिक शिक्षा रूपी शैतान ही हस्तमैथुन के प्रचार का मुख्य कारण है।

पाँचवाँ प्रकरण

बालक की उदण्डता और अपराध

नवीन मनोविज्ञान का दृष्टिकोण

मनोविज्ञान की प्राचीन विचारधारा के अनुसार जन्मजात स्वभाव से मनुष्य शैतान, निर्दयी, लोभी और ईर्ष्यालु प्राणी है। उसमें अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की भावना का होना सम्भव ही नहीं। शिक्षा द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखना सीख लेता है। जो लोग ऐसा नहीं कर पाते उनके लिए समाज में पुलिस और कारागृह की व्यवस्था है। इस विचारधारा के अनुसार यदि मनुष्य के ऊपर शिक्षा के द्वारा समाज की सभ्यता का प्रभाव न पड़े तो सभी मनुष्य बर्बर बन जायँ और एक दूसरे को मार कर खा डालें। जिस तरह छोटी मछली को बड़ी मछली खा लेती है, इस तरह प्रत्येक निर्बल व्यक्ति को उससे सबल व्यक्ति खा डाले। शील और सदाचार मनुष्य के जन्मजात गुण नहीं वरन् अर्जित गुण हैं, जो वह समाज में रहकर प्राप्त करता है।

नवीन मनोविज्ञान का सिद्धान्त ठीक इसके प्रतिकूल है। नवीन मनोविज्ञान का कथन है कि 'मनुष्य स्वभाव से भला, दयालु और सच्चा है। उसमें एक ओर स्वार्थ भाव है तो दूसरी ओर परमार्थ भाव। उसके जन्मजात स्वभाव में ही वे

सद्‌गुण निहित हैं जिनका विकास उसकी अवस्था की बृद्धि के साथ साथ होता है, और जिसके कारण वह सबके सुख की बृद्धि करने वाला प्राणी बन जाता है। मनुष्य के हृदय में दुर्भावनाएँ समाज के सम्पर्क से आती हैं। बालक को शिष्टाचार की शिक्षा देने से ही उसके स्वभाव में वह विकार उत्पन्न हो जाता है जो उसे उद्दण्ड होने के लिए विवश कर देता है। नियम ही अपराधों की सृष्टि करता है। अनुशासन बालक के स्वाभाविक प्रेम को घृणा में परिणत कर देता है और उसके सौजन्य को दुराचार में। दण्ड बालक के आचरण का सुधार नहीं करता, वरन् उसे और दूषित बनाता है।

नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार अपराध एक प्रकार की बीमारी है, जिसका उपचार मानसिक चिकित्सालयों में होना चाहिए। नवीन मनोविज्ञान के प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि जब बालक को झूठे शिष्टाचार से मुक्त कर दिया जाता है तो वह अपने दुराचार को छोड़कर सदाचारी और सुशील बन जाता है। हाब्ज महाशय का कथन है कि मनुष्य मनुष्य के लिए भेड़िया है; ईसाई विचारधारा भी इसी के अनुरूप है। नवीन मनोविज्ञान उक्त विचार को भ्रमात्मक सिद्ध करता है। नवीन मनोविज्ञान के प्रयोगों से यह देखा गया है कि सहानुभूति और प्रेम के द्वारा अपराधियों के आचरण में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाते हैं। उनकी अपराध की मनोवृत्ति नष्ट होकर सहृदयता और सद्भाव के रूप में प्रगट हो जाती है।

उदण्डता का कारण

प्रेम के अभाव का वातावरण ही मनुष्य के हृदय में उन जटिलताओं को प्रगट करता है जिनके कारण वह अपराध करता

है। जहाँ कड़े अनुशासन की व्यवस्था रहती है, वहाँ प्रेम के वातावरण का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में बालक का अपराधी अथवा उदण्ड होना आवश्यक है। कड़े अनुशासन की उपस्थिति मनुष्य की स्वाभाविक दैविकता में अविश्वास का सूचक है। कड़े अनुशासन में विश्वास करने वाले लोग मनुष्य को स्वभाव से दुष्ट मानकर अनुशासन की व्यवस्था करते हैं। नवीन मनोविज्ञान का यह अटल नियम है कि हमारे प्रकाशित भावों की अपेक्षा अप्रकाशित भावों का प्रभाव बालक के हृदय पर अधिक पड़ता है। अतएव जब हम अपनी शिक्षा द्वारा बालक को सुधारने की चेष्टा करते हैं, तो हमारी उसके प्रति आन्तरिक धारणा, उसके आचरण पर शिक्षा की अपेक्षा—जो ऊपरी मन का कार्य है—अधिक प्रभावशाली होती है।

जब हम बालक को उसकी उदण्डता के लिए पीटते हैं अथवा उसे अपने शिष्टाचारों के उपदेशों द्वारा शिष्ट बनाने की चेष्टा करते हैं तो एक ओर बालक में कल्पित सुधार करने की चेष्टा करते हैं और दूसरी ओर अपने प्रबल निर्देशों के द्वारा उसे बिगाड़ते हैं। हम अज्ञात मन से बालक से कहते हैं तुम भले नहीं हो, हम तुम्हें भला बना रहे हैं। बालक स्वभाव से न भला है न बुरा। उसमें भली और बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। वातावरण के अनुसार ये प्रवृत्तियाँ सबल अथवा निर्बल होती हैं। इनके प्रबल अथवा निर्बल बनने में निर्देश, प्रेम, प्रोत्साहन और घृणा काम करते हैं। यदि बालक को उसके दैविक स्वभाव के प्रकाशन के लिए उचित वातावरण मिले; अर्थात् उसे प्रेम और प्रोत्साहन का वातावरण मिले तो वह सदाचारी, सुशील और समाजसेवी बालक बन जाय। दुर्निर्देश और घृणा के वातावरण में वही बालक उदण्ड हो जाता है।

उदण्डता की आवश्यकता

नवीन मनोविज्ञान की दृष्टि से उदण्डता होनहार बालक के स्वभाव का अङ्ग है। वह उसके मन में उपस्थित शक्ति का सूचक है। समय के पूर्व बालक का सुशील होना उसमें मानसिक शक्ति की न्यूनता दर्शाता है। प्रतिभाशाली बालक अपने शैशव काल में उदण्ड होता है। यह उदण्डता प्रेम के द्वारा सुशीलता में परिणत की जा सकती है अथवा कठोर व्यवहार के द्वारा जटिल बनाई जा सकती है। यदि हम उदण्ड बालक को बरबश शिष्टाचार की शिक्षा न देकर अपने आप ही प्रकृति द्वारा शिक्षित होने दें और जब उसे किसी नये ज्ञान की भूख हो, उस समय ही उस ज्ञान को दें तो बालक की उदण्डता उसके जीवन की जटिल समस्या न बन कर सौजन्यता में परिणत हो जाय। बालक की उदण्डता अधिकतर वास्तविक उदण्डता नहीं होती ; इसमें हमारे बाल-मन के समझने की भूल मात्र है। जब हम प्रौढ़ और बाल-मन की विषमता को ध्यान में न रखकर बालक का आचरण अपने आचरण के अनुसार बनाना चाहते हैं, तो अपने इस प्रयास के प्रतिकूल चलने वाले बालक को हम उदण्ड कहते हैं। बाल्य-जीवन में बालक का अनेक वस्तुओं का हाथ में लेना, उन्हें तोड़ना-फोड़ना, खाने की चीज़ें प्राप्त करने के लिए लड़ाई झगड़ा करना स्वाभाविक है। उसकी इस प्रकार की चेष्टाएँ उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए आवश्यक हैं। बालक अनेक प्रकार के रसों का आस्वादन करके अपने शरीर के विकास में योग देता है और बहुत सी वस्तुओं को हाथ में लेकर, उन्हें तोड़-फोड़कर अपने सांसारिक ज्ञान की वृद्धि करता है। जब

हम बालक की इन आवश्यकताओं के ऊपर ध्यान न देकर उसे निश्चेष्ट बनाने की चेष्टा करते हैं तो हम उसके प्रति बड़ा अत्याचार करते हैं। हमारे इस प्रकार के प्रयास से या तो बालक प्रतिभाहीन और दब्बू बन जाता है अथवा वह वास्तव में जटिल और उदण्ड हो जाता है।

वास्तविक उदण्डता भी बालक के मनोविकास के लिए कुछ दूर तक आवश्यक है। बालक की उदण्डता उसकी बड़ों के प्रति विद्रोह करने की मनोवृत्ति की सूचक है। प्रत्येक बालक के स्वभाव में माता-पिता के प्रति विद्रोह करने की भावना निहित रहती है। अपने अचेतन मन में पुत्र पिता का विद्रोही होता है और पुत्री माता की। संसार के धर्म ग्रन्थ इसी को प्रमाणित करते हैं। उनमें यह बताया जाता है कि पुत्र को पिता का कहना मानना चाहिए। इस आदेश की सार्थकता इसलिए है कि स्वभावतः पुत्र पिता के आदेश के अनुकूल चलने की इच्छा नहीं रखता। नैतिक शिक्षा की आवश्यकता वहीं पड़ती है जहाँ मनुष्य का स्वभाव किसी विशेष प्रकार के आचरण में सहायक न बनकर विपरीताचरण के लिए मनुष्य को प्रवृत करता हो। हम पशुओं में देखते हैं कि पिता पुत्र में प्रेम व्यवहार न रहकर या तो शत्रुता का व्यवहार होता है अथवा उपेक्षा या उदासीनता का। अनेक हिंसक जीवों में देखा जाता है कि पिता पुत्र को मारने की चेष्टा करता है और माता ही उसके प्राण की रक्षा करती है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसने विचार के द्वारा अपने स्वभाव के ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की है। किन्तु यह विजय एकाएक प्राप्त नहीं होती। धीरे धीरे ही उसमें उन गुणों का विकास होता है, जिससे कि वह स्वभावजन्य पाशविकता को पार कर

दैविक गुण को प्रदर्शित करता है। इस तरह हम देखते हैं कि बालक की पिता से विद्रोह की इच्छा स्वाभाविक है जो धीरे धीरे उसके जीवन के विकसित होने पर शान्त हो जाती है। इस इच्छा का बरवश दवाया जाना बालक के व्यक्तित्व के विकास में हानिकर होता है।

बालक के स्वभाव में पिता से विद्रोह की इच्छा और पिता की आज्ञा मानने की इच्छा दोनों ही जन्मजात हैं। सुयोग्य व्यक्तित्व के निर्माण के लिए दोनों प्रकार की इच्छाओं में सामञ्जस्य स्थापित होना आवश्यक है। जैसे जैसे बालक के ज्ञान की वृद्धि होती है उसमें अपने आप पिता की आज्ञा मानने की इच्छा प्रबल हो जाती है। किन्तु विचार-विकास के पूर्व जब पिता बरवश उससे अपनी मनमानी कराने की चेष्टा करता है तो उसमें नैतिकता का विकास रुक जाता है, वह दब्बू बन जाता है। पिता की आज्ञा मानने की इच्छा मनुष्य के नैतिक विकास में एक सीढ़ी मात्र है। इस विकास का अन्त आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। अतएव बालक का अपने पिता की इच्छा के प्रतिकूल आचरण उसकी पाशविकता प्रदर्शित नहीं करता, वरन् उसकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्रदर्शित करता है। पिता को इस प्रकार की स्वतन्त्रता के प्रदर्शन से अप्रसन्न न होकर प्रसन्न होना चाहिए।

संसार के जितने प्रतिभाशाली पुरुष हुए हैं यदि हम उनके बाल्यजीवन का अवलोकन करें तो उन्हें अनुशासन प्रिय नहीं पावेंगे। कृष्ण उदण्ड बालक थे; उनकी उदण्डता के उलाहने सुन-सुनकर नन्द और यशोदा परेशान हो जाते थे। प्रह्लाद का आचरण हिरण्यकश्यप के ठीक प्रतिकूल था। ध्रुव अपने पिता उत्तानपाद के आचरण से असन्तुष्ट होकर तप करने

जङ्गल को चले गये थे। राम की किशोरावस्था ऋषियों की संगति में व्यतीत हुई थी। महाराणा प्रताप का आचरण उदयसिंह से ठीक प्रतिकूल था। शिवाजी का बाल्यकाल पिता से अलग व्यतीत हुआ। उनकी उद्दण्डताओं के लिए उनके पिता को बीजापुर के सुलतान की शिकायतें सुननी पड़ती थीं और एक बार कारागृह में भी पड़ना पड़ा। दयानन्द सरस्वती अपने माता-पिता के धर्म विश्वासों के प्रतिकूल विद्रोह उठाने के लिए शैशव-काल से ही कटिबद्ध थे। यदि ये व्यक्ति अपने बाल्यकाल में अपना जीवन पिता के आचार-विचारों के अनुकूल बनाते तो क्या वे समाज के इतने बड़े महान् व्यक्ति होते और क्या वे समाज का उतना कल्याण कर सकते जितना उन्होंने किया?

देखा गया है कि विरले ही महान् व्यक्ति का बालक महान् होता है। पुत्र भी महान् होता है जब उसे यह आशा होती है कि वह अपने जीवन में जो पिता नहीं कर सका वह कर सकेगा। जब उसे इसकी आशा नहीं होती और जब पिता उसके विषय में चिन्तित होकर यह निर्देश देने लगता है कि उसके पुत्र का भावी जीवन मङ्गलमय नहीं है तो पुत्र के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है और वह प्रतिभाहीन हो जाता है। संग्रामसिंह, प्रतापसिंह, शिवाजी, तिलक, लाजपतराय, चित्तरञ्जनदास और शिवकुमार शास्त्री के पुत्र इसके प्रमाण हैं।*

---

* काशी के प्रसिद्ध पण्डित स्वर्गीय श्री शिवकुमार शास्त्री के पुत्र विद्याध्ययन से वैसे ही विमुख हैं जैसे कि उनके पिता विद्याध्ययन में पारंगत थे।

प्रतिभाशाली बालक अपने पिता के बड़प्पन को अपना बड़प्पन न मानकर उसमें बाधा मानता है। यह सिकन्दर की इस घटना से प्रमा-

बालक को अपने स्वाभावानुरूप बनाने में पिता का स्वार्थ रहता है। वह बालक को अपनी सम्पत्ति मान बैठता है। उससे वह अपने अहंकार की पूर्ति करता है। इसलिए वह अपनी रुचि के अनुसार बालक को चलाने की इच्छा करता है और जब बालक ऐसा नहीं करता तो वह उससे रुष्ट होकर उसे मारता पीटता है। यही बालक के उद्दण्ड होने का कारण है। यदि पिता बालक को अपनी सम्पत्ति न मान कर उसके साथ एक स्वतन्त्र व्यक्ति जैसे व्यवहार करे तो उसके जीवन में वे समस्यायें उपस्थित न हों जो अनुशासन की कठोरता से उत्पन्न होती हैं। किन्तु इसके लिए पिता को अपने आपका सुधार करना पड़ेगा। उसे बालक के प्रति स्वार्थभाव त्याग कर वास्तविक प्रेम का व्यवहार करना पड़ेगा; बालक की प्रत्येक प्रतिक्रिया में प्रसन्नता दिखानी होगी।

जो बात पिता पुत्र के व्यवहार में लागू होती है वही शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। स्कूल में बालक के लिए शिक्षक ही पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। यदि बालक के प्रति शिक्षक का कठोर व्यवहार रहा तो बालक शिक्षक को घृणा करने लगता है और उसके मन में अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। इन गन्थियों के परिणाम स्वरूप व्यक्ति या तो कायर, दब्बू या प्रतिभाहीन बनकर जीवन व्यतीत करता है, अथवा उद्दण्ड

णित होता है कि जब उसके पिता फिलिप्स की विजय का समाचार उसे बार बार सुनाया जाता था तो वह प्रसन्न न होकर दुखी होता था। एक बार वह पिता की विजय का समाचार सुन कर यह कह कर रो पड़ा, "क्या मेरे पिता मेरे जीतने के लिये कोई भी देश न छोड़ेगा।"

और दुराचारी हो जाता है। उसमें स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की योग्यता का विकास नहीं होता। उसका बाल्यकाल का अनुभव यह दर्शाता है कि बिना किसी बाहरी सत्ता के बाध्य किए किसी मनुष्य का सदाचारी बनना असम्भव है। उसका सदाचार स्वयं भय के ऊपर आश्रित है। दण्ड का भय ही कड़े अनुशासन में पले बालक को सदाचारी बनाते हैं। प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होने पर यह भय एक मानसिक ग्रन्थि के रूप में परिणत हो जाता है जो स्वर्ग और नरक, देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि पर आरोपित होते रहता है। इस तरह कड़े अनुशासन के परिणाम-स्वरूप कायर और गुलाम लोगों के समाज का निर्माण होता है। जो लोग प्रौढ़ावस्था में उपर्युक्त भय से मुक्त रहते हैं वे भी मानसिक स्वास्थ्य का उपयोग नहीं करते। वे बाल्यकाल में जैसे उदण्ड बालक रहे उसी प्रकार अपने प्रौढ़ावस्था में दुराचारी और अपराधी व्यक्ति बनते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कठोर अनुशासन समाज में अस्वस्थ लोगों का निर्माण करता है। कड़े अनुशासन में रखे गए बालक प्रौढ़ावस्था में स्वयं अत्याचारी बन जाते हैं। वे अपने सन्तान को वैसे ही अनुशासन में रखने की चेष्टा करते हैं जैसे अनुशासन में वे स्वयं रहे थे।

बालक का दुराचार

हमारी साधारण धारणा है कि बालक उचित नियन्त्रण में न रखने के कारण तथा उसे योग्य नैतिक शिक्षा न देने के कारण वह दुराचारी हो जाता है। कोई कोई लोग दुराचार और सदाचार की प्रवृति जन्मजात मानते हैं। उनके विचारानुसार कोई बालक जन्म से ही सतोगुणी और कोई जन्म

से रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है। सतोगुणी बालक का सदाचारी बनना स्वाभाविक है जैसे कि तमोगुणी बालक का दुराचारी बनना स्वाभाविक है। नवीन मनोविज्ञान इन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों को भ्रमात्मक मानता है। सम्भव है कि योग्य घर में जन्म पाने से किसी बालक में सदाचार की ओर अधिक प्रवृत्ति हो और किसी में अयोग्य घर में जन्म पाने से दुराचार की प्रवृत्ति अधिक हो। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक जन्म से ही दुराचारी है और उसका सुयोग्य बनना कठिन है। नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार कोई बालक न जन्म से सदाचारी होता है और न दुराचारी। प्रत्येक बालक में सदाचार तथा दुराचार की प्रवृत्तियाँ होती है। ये उसके जन्म के साथ आती हैं पर कौनसी प्रवृत्तियाँ अधिक प्रबल होंगी ये बालक के लालन-पालन तथा उसकी शिक्षा पर निर्भर होता है। हमारी साधारण शिक्षा जिसके द्वारा हम बालक को सदाचारी बनाने की चेष्टा करते हैं बालक को प्रायः दुराचारी बनाती है। बालक का कठोर अनुशासन में रखा जाना तथा उसकी नैतिक शिक्षा उसे सदाचारी न बनाकर दुराचारी बनानी है।

नवीन मनोविज्ञान का यह मूल सिद्धान्त है कि बालक के दुराचारी बनने का प्रमुख कारण उसके प्रति प्रेमाभाव है। जब बालक को यह अनुभूति होती है कि जिन व्यक्तियों के प्रेम का वह इच्छुक तथा अधिकारी है वे उसे प्रेम नहीं करते तो वह प्रतिकार के स्वरूप दुराचारी बन जाता है। यदि दुराचारी बालक के प्रेमाभाव की पूर्ति कर दी जाय तो वह सदाचारी बन जाय। जब माँ घर के दो एक बालकों में से किसी एक बालक को अधिक प्यार करती है तो बालक माँ का शत्रु बन

जाता है। वह माँ की मृत्यु चाहने लगता है। यदि पिता किसी बालक को किसी दूसरे बालक की अपेक्षा कम प्यार दर्शाता हो तो पहला बालक पिता और उस बालक को घृणा करने लगता है तथा उनका अकल्याण विचारने लगता है। इस प्रकार के विचार पहले पहल उसको स्वप्न में आते हैं, पीछे उन्हीं विचारों के अनुसार उसका आचरण बन जाता है।

इस सम्बन्ध में दो एक उदाहरण उल्लेखनीय है जो नील महाशय ने अपनी पुस्तक प्रावलम चाइल्ड (जटिल बालक) में दिए हैं—

नील महाशय ने अपने एक बच्चे (शिष्य) को देखा कि वह कुछ खेल खेल रहा है और धीरे-धीरे मन ही मन गुन गुना रहा है "मैं अपनी माँ को मारना चाहता हूँ।" उसका गुनगुनाना उसके अचेतन मन की क्रिया थी, क्योंकि उसका चेतन मन खेल में लगा था ; अर्थात् उस बालक के चेतन मन को यह ज्ञान ही न था कि वह क्या कह रहा है। वास्तव में उसकी माँ अपने ही कामों में लगी रहती थी और उस बालक की कोई परवाह नहीं करती थी। बालक का अचेतन मन अर्थात् उसका हृदय माँ के इस मनोभाव को जानता था। उसका अदृश्य मन माँ के प्रेम का भूखा था और वह कहता था कि मैं माँ को मारना चाहता हूँ क्योंकि वह मुझे प्यार नहीं करती। किन्तु यह बालक स्वभाव से दुराचारी नहीं था, वास्तव में वह बड़ा ही सुयोग्य बालक था। बालक का अदृश्य मन कहता था कि यदि मैं माँ का प्यार नहीं पा सकता तो उसकी घृणा तो पा सकता हूँ। प्रेम और दुराचार का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है; जहाँ प्रेम की इच्छा की तृप्ति नहीं होती वहीं वह इच्छा दुराचार में परिणत हो जाती है। हत्या के अपराध

इस सत्य को प्रमाणित करते हैं। जितनी हत्याओं का हेतु विकृत प्रेम होता है उतनी हत्याओं का हेतु धन की चाह नहीं होती।

बालक वास्तव में अपने संबंधियों तथा मित्रों के प्रेम का भूखा होता है और जब उसे यह प्रेम प्राप्त नहीं होता तो वह दुराचारी बन जाता है। इसका नील महाशय का दिया हुआ एक और उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक बालिका जिसकी अवस्था नौ साल की है इस झक से भयभीत रहती है कि उसकी माँ कहीं उसे जहर न दे दे। उसे कितना ही समझाया जाय कि उसकी माँ उसे प्यार करती है और उसे जहर कोई नहीं देना चाहता, पर उसकी झक उसे नहीं छोड़ती। जब कभी भोजन के समय उसकी माँ उठती है तो वह उसकी चेष्टाओं को बड़ी सन्देह की दृष्टि से देखती है और कभी कभी कह बैठती है, "मैं जानती हूँ कि तुम क्या करने जा रही हो, तुम जहर लेने जा रही हो।"

बालिका के मन में इस प्रकार के विचार अपने एक छोटे भाई के प्रति ईर्षावश पैदा हुए। माँ इस बालक को अधिक प्यार करती है। बालिका इसके प्रतिकार स्वरूप अपनी माँ और भाई के मरने की इच्छा करने लगी है। बालिका का अपनी माँ के जहर देने की इच्छा की कल्पना करना उसी के माँ को जहर देने की इच्छा का माँ के ऊपर आरोपण मात्र है। उसका भय माँ द्वारा बदला लिए जाने का भय है। वह अपने आपसे कहती है कि यदि मैं माँ को जहर दूँगी तो वह भी मुझे जहर देगी, अथवा यह बालिका अपनी दुर्भावना को कार्यान्वित करने के लिए नैतिक आधार ढूढ़ती थी; अर्थात् वह अपने आपसे कहती है कि यदि माँ मुझे जहर देना चाहती है तो मेरा भी माँ को जहर देना अनुचित नहीं है।

जिस प्रकार सभी भले कामों की जड़ प्रेम है, उसी तरह सभी दुराचारों का मूल कारण घृणा है। यदि हम किसी के दुराचार के कारण को जानना चाहते हैं तो हमें उसके घृणा के कारण को जानना आवश्यक है। घृणा सदा आत्म-अपमान के कारण उत्पन्न होती है। जब बालक के आत्म-सम्मान को ठेस लगती है तो वह ठेस देनेवाले व्यक्ति से घृणा करने लगता है। बालक बड़ा स्वार्थी होता है, वह स्वयं प्यार करना नहीं जानता, पर वह प्यार का भूखा रहता है। जब तक बालक की इस इच्छा की तृप्ति नहीं होती वह दुराचारी बना रहता है। जब किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान की पूर्ति हो जाती है तो वह भला व्यक्ति बन जाता है; जब उसकी यह इच्छा अतृप्त रहती है तो वह दुराचारी बन जाता है। कितने ही लोगों की धारणा है कि दुराचरण की प्रवृत्ति बुरी संगत, बुरी पुस्तकों के पढ़ने तथा चोरी आदि की फिल्म से पैदा होती है। नवीन मनोविज्ञान उक्त बातों को दुराचरण का मूल कारण नहीं मानता। बुरी प्रवृत्ति बालक के मन में पहले से ही रहती है, सिनेमा में देखी गई बुरी तसवीरें उस प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने का उपायमात्र दर्शाती हैं। प्रवृत्ति की उत्पत्ति का कारण बालक के प्रति प्रेम-हीन व्यवहार होता है।

बालक अपने प्रति अत्याचार करनेवालों के प्रति दुर्भावना रखता है। वह अपने दिवास्वप्नों में उन्हें दण्ड दिया करता है अथवा अन्य किसी प्रकार से बदला लिया करता है। जो काम साधारण बालक अपने दिव्य स्वप्नों में किया करता है वही बात दुराचारी बालक वास्तविक जगत् में करता है। मनुष्य की भावनाएँ ही उसके कार्यों की मूल स्रोत हैं। यदि बालक की भावनाएँ उसके प्रति अत्याचार अथवा प्रेमहीन व्यवहार

करके बिगाड़ दी गई हैं, तो उसका दुराचारी होना स्वाभाविक है।

दुराचारी बालक का हम उसके प्रति अपना व्यवहार बदल कर सदाचारी बना सकते हैं। प्रेम एक ऐसी संजीवन-बूटी है जिसके द्वारा उसकी मूर्छित प्रतिभा तथा सद्भावना की मनोवृत्ति को पुनर्जीवित किया जा सकता है। प्रेम के द्वारा मनुष्य के आचरण में चमत्कारिक परिवतन हो जाते हैं। जैसे घृणा का वातावरण मनुष्य को क्रूर, शैतान बना देता है, इसी तरह प्रेम का वातावरण उसे देवरूप में परिणित कर देता है। इस प्रसंग में डाक्टर डोमरलेन ने प्रेम द्वारा जो दुराचारी बालकों का सुधार करने का प्रयत्न किया वह उल्लेखनीय है—

डाक्टर होमरलेन का प्रयोग

डाक्टर होमरलेन ने एक रिफार्मेटरी के बालकों को सुधारने का भार अपने ऊपर लिया। इस रिफामेटरी में ऐसे बालक थे जो किसी प्रकार के दुराचरण के कारण बन्दी रखे गए थे। साधारणतः इन बन्दीगृहों में बालकों के साथ कठोरता का व्यवहार होता है। अधिकारी लोग हमारे साधारण धर्म-शिक्षकों के विचारों से प्रभावित होकर बालक को ताड़ना देकर अथवा उसे बुरे कामों का अवसर न देकर उसमें सुधार करना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम प्रायः उल्टा ही होता है।*

* ताड़ना के द्वारा किस प्रकार मनुष्य का स्वभाव विकृत हो जाता है इसका एक सुन्दर उदाहरण हम अलेक्जेन्डर डूमाज के "ला मज-रेविल्स" नामक नाटक में वर्णित डाकू के चरित्र में देखते हैं। जितनी इस व्यक्ति को ताड़ना मिलती है वह उतना ही अधिक दुराचारी बनता

बालक दिन-प्रतिदिन और भी दुराचारी बनता जाता है। वह पहले जो कार्य वास्तविक जगत् में करता था अब अपने कल्पित जगत् में करने लगता है। इस तरह वह अपने प्रति कठोरता का व्यवहार करनेवालों से बदला लेने की भावना को भी अपने मन में दृढ़ कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब बालक रिफार्मेटरी के बाहर आता है तो सदाचारी न बनकर पहले से अधिक दुराचारी बन जाता है।

डाक्टर होमरलेन बालक के आचरण सुधारने के लिए इस रीति के ठीक उलटी रीति को काम में लाये। बालक को कठोर नियंत्रण में न रखकर उसे स्वतंत्रता दे दी गई। डाक्टर होमरलेन ने अपनी रेफार्मेटरी का नाम 'छोटा प्रजातन्त्र' रखा। यहाँ सभी बालकों को मनमाने काम करने की स्वतन्त्रता थी। साथ ही साथ उनके ऊपर स्वतंत्रता की जिम्मेदारियाँ भी दी गईं। प्रत्येक बालक कुछ न कुछ उपयोगी काम करता था। इस तरह वह अपने साथियों के समक्ष आत्म-सम्मान का अधिकारी होता था। जब वह काम से जी चुराता था तो उसके साथी ही उसका सुधार करते थे। वह दूसरे बालकों के उदाहरणों को देखकर अपने आप भी वैसा ही करने की चेष्टा करता था। उसे नैतिक उपदेश नहीं दिए जाते थे, पर उसे सदा उपयोगी काम में लगे रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इसके परिणाम-स्वरूप बालक स्वयं जीवन के उत्तरदायित्व को समझने लगता था, और उसमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आ जाती थी।

जाता है। विशहौप का उसे सुधारने का प्रयत्न डाक्टर होमरलेन के जटिल बालकों के सुधारने के प्रयत्न के सदृश्य है।

होमरलेन अपने बालकों की अवाञ्छनीय मनोवृत्ति का कैसे सुधार करते थे इसका एक रोचक उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक बार डाक्टर होमरलेन की रिफार्मेटरी से नया भरती हुआ लड़का भागा। डाक्टर होमरलेन ने उसका पीछा किया और उसे पकड़ लिया। बालक को ऐसी अवस्था में हथकड़ी डाली जाने की आदत पड़ गई थी; अतएव उसने अपने आपको बचाने के लिए हाथ फैलाया। परन्तु देखता क्या है, होमरलेन महाशय मुसकराये और उन्होंने उसके हथेली में एक गिन्नी रख दी। बालक इसे देखकर चकित हो गया। उसने पूछा "यह किस लिए देते हो ?" होमरलेन ने उत्तर दिया, "गाड़ी से घर जाओ, इतनी दूर पैदल क्यों जाओगे !" वह बालक स्वतंत्र कर दिया गया, पर वह उसी रात प्रजातंत्र में वापस आ गया।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बालकों के आचरण सुधारने के लिए उनके साथ कठोरता का नहीं वरन् प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक है।

पाँचवाँ प्रकरण

मनोराज्य

मनोराज्य क्या है ?

मनोराज्य (दिवा-स्वप्न) अचेतन मन में स्थित वासनाओं की प्रतिक्रिया है। जो वासनाएँ हमारी साधारण अवस्था में तृप्त नहीं हो पातीं, उन्हें हम चेतना की असाधारण अवस्था में तृप्त करते हैं। मनोराज्य, स्वप्न, उन्माद, चेतना की असाधारण अवस्थाएँ हैं। इन सभी का कारण अदृश्य मन की वासनाएँ हैं। जब कोई मनुष्य ऐसा संकल्प करता है जिसके सफल होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती तो वह वास्तविकता से अपना सम्पर्क छोड़ देता है और मनोराज्य के जगत् में विचरण करने लगता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि हमारा मन अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने में लगा रहता है। जब हम इन कल्पनाओं का कारण खोजने लगते हैं तो उसे नहीं पाते। परन्तु यदि हम मनोविश्लेषण करके देखें तो ज्ञात होगा कि इन कल्पनाओं का कारण कोई विस्मृति अनुभूति अथवा दलित इच्छा ही है। यह विस्मृति अनुभूति अथवा दलित इच्छा चेतन मन को ज्ञात नहीं रहती। पर वह अदृश्य मन में दृढ़ता से स्थित रहती है। मनोराज्य इसी का परिणाम या कार्य्य होता है।

बालकों के जीवन में मनोराज्य का बाहुल्य

बालकों के जीवन में मनोराज्य का बाहुल्य रहता है। बालकगण कल्पना-शक्ति के विकसित होते ही अनेक प्रकार की मानसिक सृष्टि का निर्माण करते हैं, और इस सृष्टि में अपने आप बड़ी प्रसन्नता के साथ विचरण करते हैं। बालकों के जीवन में मनोराज्य के बाहुल्य का प्रधान कारण उनकी शक्ति की परिमितता और उनकी इच्छाओं की प्रबलता है। बालकों की इच्छाएँ अनेक वस्तुओं को लेने तथा दूसरों पर अपना अधिकार जमाने की होती हैं। किन्तु वे अपनी शक्ति को अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के योग्य नहीं पाते। ऐसी अवस्था में स्वभावतः ही वे मनोराज्य में विचरण करने लगते हैं। जब किसी बार बालक को मनोराज्य में विचरण करने की आदत पड़ जाती है तो फिर वह अपनी साधारण शक्ति का उपयोग वास्तविकता पर विजय प्राप्त करने में न लगा कर कल्पित संसार के निर्माण करने में लगा देता है। यदि हम मनोराज में विचरण करने वाले बालकों के जीवन का भली प्रकार से अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उनकी मनोराज्यमयी कल्पना का सम्बन्ध उनकी इच्छाओं से ही रहता है। यहाँ एक ऐसे बालक की कुछ मनोराज्यमयी कल्पनाओं का उद्धरण करना अवाञ्छनीय न होगा, जो अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाया था। यह उदाहरण मारगन महाशय ने अपनी पुस्तक 'साइकॉलॉजी आफ़ दी अनएडजेस्टेड स्कूल चाइल्ड' में दिया है—

एक बालक ने एक बार अपने मनोराज्य के कल्पना में यह देखा कि उसका बाप घर से भाग गया है। जब वह घर से कई

सौ मील दूर पहुँचा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह रुपये पैसे तो घर ही पर छोड़ आया, अतएव वह घर लौट आया। दूसरी बार इसी बालक ने मनोराज्य में देखा कि उसका पिता घर से भागा और इटली देश तक पहुँच गया, किन्तु वहाँ पर उसे कई लुटेरों ने लूट लिया और उसे फिर निर्धन होकर लौटना पड़ा। तीसरी बार इसी बालक ने यह देखा कि उसकी और उसके साथियों की एक बड़े झुण्ड के साथ भिड़न्त हो गई, जिसमें वह जीत-कर चला आया।

इन तीनों मनोराज्यमयी कल्पनाओं के विश्लेषण से पता चलता है कि बालक अपने घर से पिता के भाग जाने का इच्छुक है, दूसरे उसे रुपये-पैसे पाने की इच्छा है और तीसरे उसे मान-प्रतिष्ठा की भी इच्छा है। पहली इच्छा का कारण पिता का पुत्र के प्रति सहानुभूति का अभाव था, दूसरी का कारण उसे पैसे की कमी थी और तीसरी का कारण उसका समाज में तिरस्कार था। बालक के प्रति जब पिता की सहानुभूति और प्रेम-दर्शन बढ़ गये, जब बालक को पैसा मिलने लग गया और जब उसका सम्मान अपने साथियों में बढ़ गया तो उसका मनोराज्य का विचरण छूट गया। सारांश यह कि जब बालक का वास्तविकता से सम्पर्क हुआ और जब उसे अपनी शक्ति का ज्ञान हुआ तब वह उसका उपयोग निरर्थक मनोराज्य की कल्पना में न करके वास्तविकता पर विजय प्राप्त करने में करने लगा।

मनोराज्य से लाभ

मनोराज्य में विचरण करना उचित नहीं समझा जाता। हम सोचते हैं कि मनोराज्य में विचरण करनेवाला मनुष्य निकम्मा

है और संसार का अधिक लाभ नहीं कर सकता। हमारा इस प्रकार का सोचना निरर्थक भी नहीं है। प्रौढ़ लोगों का मनोराज्य में अधिक विचरण करना, उनके मानसिक पतन का सूचक है। उन्हें अपने सांसारिक कामों से मनोराज्य में विचरण करने के लिए अवकाश ही न मिलना चाहिए। किन्तु यह बात बालकों के विषय में नहीं कही जा सकती। बालकों का मनोराज्य में विचरण करना उनके स्वभावानुकूल है। मनोराज्य कल्पना-विकास की पहली सीढ़ी है। कल्पना जब परिपक्व होती है तो वह स्वभावतः वास्तविकता में परिणित हो जाती है; किन्तु हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि बालक की कल्पना कल्पना ही न रह जाय।

जैसे जैसे बालक की अवस्था बढ़ती है उसका मनोराज्य धीरे धीरे कम होकर वास्तविक जगत् के ज्ञान में परिणत होता है और उसपर विजय प्राप्त करने में सहायक हो जाता है। जब बालक का वास्तविकता से बिल्कुल सम्पर्क छूट जाता है तब मनोराज्य दुख का कारण बन जाता है। मनोराज्य के द्वारा बालक अनेक प्रकार से आदर्श बनाता है तथा उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है; किन्तु जब बालक इस प्रकार के आदर्श बना लेता है जिन्हें प्राप्त करने की उसकी शक्ति ही नहीं तो वह अपने जीवनमें दुःख का बीज बो लेता है। माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बालकों को सदा इस प्रकार के आदर्श बनाने में सहायता दें जिन्हें वे जीवन में चरितार्थ कर सकें। बालकों को बड़ी बड़ी आशायें बाँधने से रोकना चाहिये। यह कार्य बालकों को वास्तविकता के सम्पर्क में लाने से सुगमता से हो सकता है।

अत्यधिक मनोराज्य के कुपरिणाम

प्रायः देखा जाता है कि बालक मनोराज्य में विचरण करते हुये उसमें इतने लवलीन हो जाते हैं कि इसका परिणाम उनके लिए बहुत बुरा होता है। वे नाना प्रकार के मानसिक दुःखों में पड़ जाते हैं। हाँ, यह सत्य है कि उत्कट कल्पनाओं के द्वारा बालक के चरित्र में सुधार होता है। सुन्दर कल्पनाएँ ही मनुष्य जीवन को सुन्दर बनाती हैं। मनुष्य को ऐसी भावनायें मन में लानी चाहिएँ जिससे उनका सुधार हो। कर्तव्य की ओर अभिमुख करने वाली कल्पनायें करके तथा उसके अनुसार आचरण करके हम आदर्श व्यक्ति बन सकते हैं।

पर चरित्र को उच्च बनाने के लिये कार्यशीलता आवश्यक है। उच्च भावनाओं के अनुसार कर्तव्य करते हुये हम श्रेष्ठ बन सकते हैं। यदि हम सोचते रहें कि हम बहुत ही ऊँचे तथा सर्वमान्य व्यक्ति होंगे, लोक में हमारी प्रतिष्ठा तथा ख्याति होगी और उस के अनुसार हम कर्तव्य न करें तो हम अपनी ही भावनाओं द्वारा विनाशोन्मुख हो जायेंगे तथा हमारे व्यक्तित्व का पतन होना निश्चित हो जायगा। सक्रिय कल्पना ही हमें श्रेष्ठ व्यक्ति बना सकती है, निष्क्रिय नहीं। यदि हमारे आदर्श क्रियमाण नहीं है तो हमारी अवनति अवश्य होगी। निष्क्रिय कल्पना मनुष्य के लिए बड़ी हानि। कारक है। मनोराज्य में विचरण करने वाला व्यक्ति सदैव अपने उच्चाधिकारिता की बात सोचा करता है और अक्रियमाण होने के कारण जब वह नीचे पद पर आसीन होता है तो उसे आत्मग्लानि होती है। किशोर बालकों में मनोराज्य में विचरण की भारी प्रवृति होती है। बालकों के

लिए यह बड़ी दुःखमूलक होती है। अभिभावकों को किशोर बालकों को इस प्रकार की मनोवृति से निकालना चाहिए। अत्याधिक मनोराज्य के कारण बालकों को चारी दुःख उठाना पड़ता है।

मारगन साहब ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में ऐसी एक किशोर बालिका का उदाहरण दिया है जो अपनी भावनाओं में सदैव रमा करती थी। ये भावनायें इतनी सुदृढ़ता के साथ उसके मस्तिष्क में बैठ गईं कि उससे उसका जीवन भार स्वरूप हो गया था। लड़की यह सोचा करती कि हमारा वैवाहिक जीवन बहुत सुख, शान्ति से व्यतीत होगा। हमें आगे चलकर सुगठित शरीर वाला युवक मिलेगा, जिससे हमारे जीवन की मरुभूमि में कलरव करती सम्पत्ति की मन्दाकिनी प्रवर्द्धित होगी। पति के साथ नाना प्रकार के क्रीड़ा कौतुकों में हमारा दिन समाप्त होगा। हमारे समान किसी का सौभाग्य न होगा। पर उसका विवाह एक साधारण व्यक्ति के साथ हो गया। उसके साथ कुछ दिन जीवन व्यतीत करने के बाद उसने उसे त्याग दिया, क्योंकि वह उसकी भावनाओं के अनुसार सुन्दर नहीं था, तथा वह हर एक बातों में उसकी रुचि के प्रतिकूल सिद्ध हुआ। पन्द्रह वर्ष के बाद उसने फिर दूसरा विवाह किया। उसका यह पति भी काम काज में लगा रहता था। उसकी भावनाओं के अनुसार वह भी न निकला। उसकी अतृप्त वासनायें सक्रिय हो उठीं। उसे प्रबल धक्का लगा, वह पागल हो गई। अन्त में उसे पागलखाने में ले जाना पड़ा।

पागलखाने में उसकी दलित भावनाओं का प्रकाशन देखा जा सकता था। वहाँ अन्य पागलों को देख कर वह उनका नामकरण करती। ये नाम उन व्यक्तियों के थे

जिनको वह किशोरावस्था में चाहती थी, तथा जिनकी वह कल्पना किया करती थी। इस तरह वह उसमें नाचा करती थी। जब उससे उसके बाल-सखाओं के नाम कहे जाते तो वह प्रसन्न होती। इस प्रकार उसकी अतृप्त वासनाओं को वह स्मृति द्वारा तृप्त किया करती थी ऐसा करने से वह कुछ अच्छी हो जाती थी। वह कभी अच्छी होती कभी फिर अपनी पागल दशा को प्राप्त हो जाती थी। यह अतृप्त वासनाओं के तृप्त न होने का दुष्परिणाम है, तथा मनोराज्य में अबाध्य गति से विचरण करने का कुफल है।

मनोराज्य के दुष्परिणाम का एक सुन्दर और शिक्षाप्रद उदाहरण जार्ज इलियट ने अपनी एडमबीड नामक पुस्तक में हेटी के चरित्र में किया है। हेटी मनोराज्य में रहने की आदत के कारण व्यभिचारिणी हुई। उसे अपनी उच्च भावनाओं के कारण पतन के गड्ढे में गिरना पड़ा। वह रूपवती थी। किशोरावस्था में वह सोचा करती थी, हमारे पतिदेव नई नई वस्तुओं के देने वाले मिलेंगे। वे नये नये कपड़े हमें देंगे। प्रतिदिन की उसकी नई पोशाक होगी, वे धन धान्य से सम्पन्न व्यक्ति होंगे, हमारा उनके साथ सुखमय जीवन बीतेगा, पर उसका विवाह होना एडम बीड के साथ निश्चित हुआ। जो एक साधारण व्यक्ति था, उसकी आर्थिक दशा उतनी अच्छीं नहीं थी जितनी कि वह सोचा करती थी। वह अवैवाहिक अवस्था में ही आर्थर डोनीथर्न के फँसाव में आ गई। वह उसे चाहने लगी। डोनीथर्न उसके साथ विवाह नहीं कर सकता था। डोनीथर्न के साथ गुप्त प्रेम रखने के कारण उसे गर्भ रह गया। पता चलने पर उसने भ्रूण हत्या कर दी। डोनीथर्न तो दूसरे देश चला गया था। वह पकड़ी गई और उसे फाँसी की

सजा हुई। अन्त में फाँसी न होकर उसे आजन्म कैद की सजा दी गई।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि बालकों का मनोराज्य में अत्याधिक विचरण करना उनके चरित्र और भावी सुख का विनाशक है। मन-मोदक खाने से भूख नहीं बुझती। उक्त महिला का व्यभिचारिणी होना तथा उसे आजन्म कैद की सजा भुगतना उसके अबाध्य मनोराज्य में विचरण करने का दुष्परिणाम है।

छठवाँ प्रकरण

बच्चों के खिलौने और खेल

बालक के लिये खेल की आवश्यकता

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि खेल बालकों के मानसिक विकास के लिये आवश्यक है। नवीन मनोविज्ञान ने खेल की मानसिक विकास और चरित्र सुधार पर एक नया प्रकाश डाला है।

जिन बच्चों का स्वभाव माता पिता के प्रति उनके अनुचित व्यवहार के कारण बिगड़ गया है, खेल और खिलौने के द्वारा सुधारा जा सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है अनेक माता पिता अपने बालकों को ताड़ना देकर सुयोग्य बनाना चाहते हैं, किन्तु इससे उनका स्वभाव सुधरने के बदले बिगड़ जाता है। सात वर्ष तक के बच्चों के लिए उनके स्वभाव को सुधारने में खेल और खिलौने बड़े महत्व का कार्य करते हैं।

पानी के खेल

बालक के शैशव काल में पानी उसकी एक बहुत प्रिय खेलने की वस्तु होती है। अतएव पानी में खेलना उसे बहुत अच्छा लगता है। कितने ही बालक किसी बर्तन में पानी भरा हुआ देखकर बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। उन्हें पानी को थपथपाना,

एक लोटे से दूसरे लोटे में पानी डालना, उसकी नदी बहाना इत्यादि काम बहुत अच्छे लगते हैं। यदि किसी बर्तन में पानी भरा रखा हो तो बालक उसे ढुलका देना चाहता है। बालक इस प्रकार के कार्य से अपनी रचनात्मक शक्ति के प्रकाशन के आनन्द की अनुभूति करता है। शक्ति का प्रकाशन सदा आनन्द-दायक होता है। शक्ति के प्रकाशन से ही मनुष्य आत्मबोध और पूर्णता की प्राप्ति करता है। अतएव जिस बालक को जितना ही अपनी शक्ति के प्रकाश का अवसर मिलता है उसका आत्म ज्ञान उतना ही परिपक्व होता है और उसका व्यक्तित्व उतना ही सुव्यवस्थित होता है।

प्रायः देखा गया है कि धनी घर के बालकों को पानी से खेलने की सब प्रकार की सुविधा होने पर भी खेलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। धनी बालकों के माता-पिता सदा उनके स्वास्थ्य के विषय में चिंतित रहा करते हैं। पानी के पास बालकों के जाते ही वे डर जाते हैं। यदि बालक भूल से कभी पानी के पास चला भी गया और उसने अपना हाथ पानी में डाल दिया तो दाई दौड़कर बालक को पकड़ लेती है। धनी माता-पिता को हर समय चिन्ता लगी रहती है कि पानी छूने अथवा पानी से खेलने से उनके बच्चों को शीत न लग जाय। इस तरह वे बालक को बरबश सुकुमार बना देते हैं। बालक भी उनके मनोभावों से प्रभावित होता है और वह अपने आपको सुकुमार समझने लगता है। इस प्रकार एक ओर बालक की शक्ति का प्रकाशन रुक जाता है, जिससे उसके रचनात्मक आनन्द का अन्त हो जाता है, और दूसरी ओर वह अपने को आवश्यकता से अधिक निर्बल समझने लगता है। बालक के मन में इस प्रकार कूट कूटकर भरी हुई कमज़ोरी

की भावना उसके प्रौढ़ होने पर अपने आपको विशेष व्यक्ति समझने की भावना में प्रकाशित होती है। कितने ही लोग अपने आपको बड़े घर का मानकर साधारण काम करने से बचाते रहते हैं। वे सोचते हैं कि उनके शरीर की गठन ईश्वर ने किसी विशेष प्रकार से की है और उनके जीवन का कोई विशेष लक्ष्य है। इस प्रकार की धारणाएँ उनके मनमें कूट कूटकर बैठी हुई दुर्बलता की भावना की प्रतिक्रिया मात्र हैं, जिसे नवीन मनोविज्ञान में 'अतिपूर्ति' की प्रतिक्रिया कहा जाता है।

गरीब घर के बालकों को भी पानी से खेलने का ठीक अवसर नहीं मिलता। जब ये पानी के पास जाते हैं तो पीट दिए जाते हैं। यदि बालक पानी को गिरा देता है, तो माता को पानी फिर दूर से लाना पड़ता है। अतएव गरीब घर के बालकों का हर एक प्रकार के आत्म-प्रकाशन का दमन हुआ करता है। गरीब घर के बालकों की माताएँ न तो इतनी सुशिक्षिता होती हैं कि अपने बालकों की देख भाल ठीक तरह से कर सकें और न उनके पास इतना पैसा होता है कि बच्चों को अनेक प्रकार के खिलौने दें।

बालक के मन में पानी के प्रति रुचि जन्मजात है। इस रुचि का उपयोग बालक के व्यक्तित्व के विकास में करना आवश्यक है। बालक को अपने आप पानी में खेलने देने से उतना लाभ नहीं है जितना कि प्रौढ़ व्यक्ति की सहायता से और उनके निरीक्षण में खेलने से लाभ है। पानी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए अनेक प्रकार की खेल की वस्तुओं का उपयोग किया जा सकता है। बालक को 'साइफन' का चमत्कार खेल खेल में बताया जा सकता है। जब एक बार बालक इस चमत्कार को देखता है तो वह बड़ा प्रसन्न होता है।

इसी तरह 'रहठ' आदि खिलौने भी पानी के साथ खेलने में काम में लाए जा सकते हैं। जितने ही सरल खिलौने इस खेल में प्रयोग में लाए जाएँ उतना ही अच्छा है।

मिट्टी के खेल

पानी को मिट्टी में मिलाकर अनेक प्रकार के खेलों की सृष्टि की जा सकती है। बालक के मानसिक विकास में मिट्टी के खेलों का बड़ा महत्त्व है। माता पिता प्रायः बालक को मिट्टी और कीचड़ से खेलने से रोका करते हैं, क्योंकि वे इसे गंदी वस्तु समझते हैं। किन्तु उनका इस प्रकार का व्यवहार उनकी भूल है। बालक का मानसिक विकास मिट्टी के खिलौने के द्वारा जितना अच्छी तरह किया जा सकता है उतना दूसरी किसी वस्तु से नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बालक में पानी के प्रति जन्मजात रुचि होती है, उसी प्रकार गीली मिट्टी के प्रति भी होती है। अभिभावकों को चाहिए कि बालक को स्वयं मिट्टी सानने दें। अपने आप सान कर मिट्टी उसको नहीं दें। जब बालक स्वयं मिट्टी सानता है तो उसे एक विशेष प्रकार के रचनात्मक आनन्द का अनुभव होता है। साथ ही उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि मिट्टी और पानी को किस परिमाण में उसे मिलाना चाहिए। बालक जब मिट्टी सानकर एक लोंदा बना लेता है तो बड़ा प्रसन्न होता है। वह इससे गेंद बना सकता है, जिसको वह इधर उधर ढुलका सकता है। इसी तरह पीछे वह गीली मिट्टी से अनेक प्रकार के प्याला प्याली बना सकता है। छः सात वर्ष के बालक गिलास, प्याले बनाकर आग में पका सकते हैं। पीछे वे उनके ऊपर अनेक प्रकार की चित्रकारी कर सकते हैं।

मिट्टी के खेल से लाभ

कितने ही बालकों को रात में सोते सोते पेशाब करने की आदत पड़ जाती है। वे इसके लिए पीटे जाते हैं, किन्तु इससे उनकी यह आदत नहीं छूटती। जो बालक रात में बिछौने पर पेशाब करता है वह जान बूझ कर पेशाब नहीं करता है, उसे अनजाने में ही पेशाब हो जाता है। नवीन मनोविज्ञान की खोज से पता चला है कि इस प्रकार की आदत का कारण बालक को अपने मल मूत्र से खेलने से रोकना है। जब छोटा बालक अपने मलमूत्र को छूने लगता है तो माता पिता उसको दुत्कारते या ताड़ना देते हैं, इस प्रकार उसकी इन गंदी चीजों में रूचि का दमन हो जाता है; किन्तु इस रूचि का कोई सदुपयोग नहीं होता। शिशु में "गन्दी" और "साफ़" की कोई समझ नहीं रहती। यह समझ माता पिता को होती है। नवीन मनोविज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि जब भी बालक की कोई रुचि सर्वथा दबा दी जाती है और उसके प्रकाशन का कोई मार्ग नहीं निकाला जाता तो वह रूचि बालक की अवांछनीय आदतों में परिणत हो जाती है। बालक की रुचि का दमन करना उसके व्यक्तित्व को नष्ट करना है। उसकी रुचिके शोध से ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। गीली मिट्टी से खेलना बालक की मल मूत्र छूने की रूचि का शोध करता है। यह इस रुचि का मार्गान्तरीकरण है। इस प्रकार के मार्गान्तरी करण से बालक की अवांछनीय रुचि उसके व्यक्तित्व के विकास में काम में लाई जाती है।*

---

* इस प्रसंग में डाक्टर होमरलेन का कथन उल्लेखनीय है—
Clay or Plasticine is particularly useful when the child

जब बालक को गन्दी वस्तुओं को छूने से मार पीट कर रोका जाता है, तो उसकी इस जन्मजात रुचि का दमन अनेक प्रकार की भावी बीमारियों का कारण बन जाता है। गीली मिट्टी

---

shows interest in excrement; and when, owing to repression of interest, or unwise treatment in regard to sanitary habit, he suffers from nervousness, and so has acquired the habit of wetting the bed. He must not be told or allowed to feel that he has done something dirty or naughty, nor must he by a violent whipping be taught to repress the habit, because that will result in serious trouble at seven or fourteen. The clay and plasticine are a subistitute for what he is interested in.and playing with them sets free the energy which otherwise would remain unsatisfied.'.

—*Talks to Parents and Teachers*, P.134.

मिट्टी और प्लासटीसीन के खेल बालक जब मैला छूने की प्रवृत्ति दिखाता है उस समय विशेष लाभकारी होते हैं। इस समय बालक की रुचि के दमन के कारण, अथवा उसकी गंदी आदत के प्रति प्रौढ़ लोगों के बेसमझ के व्यवहार के कारण उसमें भयभीत होने और बिस्तर में पेशाब करने की आदत पड़ जाती है। बालक जब अपना मैला छूये तो उसे उसके लिए डाँटना या पीटना अनुचित है, ऐसा करने से उसके भावी जीवन में सात वर्ष या चौदह वर्ष की अवस्था में मानसिक जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। गीली मिट्टी और प्लेस्टसीन के खेलों के द्वारा उसकी रुचि का मार्गान्तरीकरण हो जाता है और उसकी शक्ति रचनात्मक कार्यों में प्रकाशित होने लगती है, जो कि अन्यथा बन्दी रहने के कारण बुरी आदतों में प्रकाशित होती है।

और प्लेस्टेसीन के खेलों के द्वारा जब उसकी जन्मजात रुचि में परिवर्तन कर दिया जाता है तो उसकी रचनात्मक शक्ति को प्रकाशित होने का अवसर मिल जाता है, जिसके कारण न केवल उसके जीवन के आनन्द की वृद्धि होती है, वरन् उसकी बुद्धि का विकास भी होता है। 'प्लेस्टसीन' की अपेक्षा गीली मिट्टी बालक की रचनात्मक शक्ति के प्रकाशन के लिए एक तरह से अधिक उपयोगी होती है, क्योंकि बालक को पानी में मिट्टी सानने के आनन्द की अनुभूति का अवसर मिलता है। प्लेस्टेसीन रंग और सुगंध की दृष्टि से अच्छी होती है।

नवीन मनोविज्ञान उन सभी प्रकार के खेलों को प्रोत्साहन देना चाहता है जिससे कि बालक वातावरण के ऊपर अपनी शक्ति के द्वारा अपना प्रभुत्व जमाने में समर्थ हो। जैसे जैसे बालक की अवस्था बढ़ती है, उसके खेलौनो का उत्तरोत्तर जटिल होना आवश्यक है। बालक की हर एक स्थिति में उसके खेल ऐसे होने चाहिए जो उसके सामन कुछ न कुछ कठिनाई रखें और जिस कठिनाई को वह हल कर सके। कठिनाई को हल करने में ही मनुष्य को रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि वास्तविक आनन्द शक्ति की अनुभूति और उसके प्रकाशन में ही है।

लकड़ी के खिलौने

छोटे बालकों के लिए बड़े बड़े जटिल खिलौने देना व्यर्थ है। लकड़ी की छोटी २ गाड़ियाँ जिनपर बालक कुछ सामान रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं बालक को बहुत ही आनन्द देते हैं। हमारे देश के किसी-किसी

प्रान्त में 'पोरा' का त्योहार मनाया जाता है। इस त्योहार के दिन बालक बनजारे का खेल खेलते हैं। पुराने समय में बनजारे लोग अपने बैलों और भैंसों पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया करते थे; इसी तरह पोरे के दिन छोटे छोटे बालक बहुत से लकड़ी के बने खिलौने (बैल, भैंसा, हाथी आदि) घसीट कर इधर से उधर ले जाते हैं। इन पर खाने का बहुत सा सामान लदा रहता है। भूख लगने पर वे इसे खा लेते हैं। दुख की बात है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण ऐसे खेल और खिलौने का अन्त होता जा रहा है, और उनके स्थान पर दूसरे उपयुक्त खेल और खिलौने भी नहीं आ रहे हैं। इससे बालक की रचनात्मक शक्ति के विकास में रुकावट होती है और उसका जीवन निरानंद हो जाता है। उसकी प्रतिभा क्षीण हो जाती है।

धनी घर के बच्चों के लिए मैकेनो के खेल उपयुक्त होते हैं। यदि ऐसे खिलौने गरीब घर के बालकों के लिए भी मिल सकें तो कितना अच्छा हो। 'मेकेनो' में रखे हुए अनेक टुकड़े घर बगीचा आदि में परिणित किए जा सकते हैं। बालक अपने विचार को इस तरह किसी दृष्टिगोचर पदार्थ में परिणित करना सीखता है। जापानियों ने अपने बालकों के लिए अनेक ऐसे खिलौनों का अविष्कार किया है, जिनसे कि वे एक ओर अपनी रचनात्मक शक्ति की अनुभूति करते और दूसरी ओर मशीन से काम लेना सीखते हैं। हवाई जहाज और स्टीमर की बनावट तथा उनके चलाने के ढङ्ग को इस तरह बालक सात आठ वर्ष की अवस्था के पहले ही सीख जाते हैं। उनका ज्ञान भले ही अपूर्ण क्यों न हो, किन्तु इन विषयों में उनकी रुचि स्थाई हो जाती है।

बाहर घूमना

हेमरलेन महाशय का कथन है कि छोटे बालकों को दूरतक घुमाने ले जाना उनके लिए अधिक लाभकारी नहीं है। इससे बालक अनेक बस्तुओं की संवेदना के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त करते। इससे बालक की कल्पना शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है और इससे उसे मनोराज में रहने की आदत पड़ जाती है। इसके बदले यदि बालकों को घर में ही ठीक तरह से रक्खा जाय और कुछ समय के लिए बगीचे में खेलने-कूदने के लिए ले जाया जाय तो यह उसके मानसिक विकास के लिए अधिक लाभप्रद हो। यदि बालक को अपने साथ घुमाने को ले जाया जाय तो आध घंटे का घुमाना ही उसके लिए पर्याप्त है। इससे जो समय बचेगा वह बालक रचनात्मक खेलों में लगायेगा। रचनात्मक खेलों से एक लाभ यह होता है कि बालक इन खेलों के अनेक प्रकार के मनसूबे लेकर सोता है और ऐसे उसका चित्त प्रसन्न रहता है। इस तरह बालक दिन की घटनाओं के विषय में नहीं सोचता और न वह ऐसी कल्पनाएँ मन में लाता है जो उसे दुःखद हो।

विकासमय जीवन के लक्षण

बालक का जीवन विकास मय होता है। विकासमय जीवन की विशेषता यह है कि ऐसा व्यक्ति अतीत काल से विषयों पर नहीं, वरन् भविष्य के विषय में सोचता है।

अतीत काल के अनुभव के आधार मात्र पर जो मनुष्य मनसूबे बनाता हैं वे व्यावहारिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

किन्तु जिन मनसूबों का आधार भावी घटनाओं की सम्भावना होती है वे व्यावहारिक होते हैं। अतएव अत्यधिक भूतकाल का चिन्तन करना और उसके आधार पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करना मनुष्य के जीवन की उन्नति को सूचक नहीं, वरन् अवनति को सूचक हैं। मानसिक विकास के अवरोध की अवस्था में अथवा निकम्मेपन में ही मनुष्य अपनी चेतना को अतीत काल की स्मृतियों में उलझाये रहता है। जब बालक को अनेक प्रकार से अपनी शक्ति प्रदर्शन में प्रोत्साहित नहीं किया जाता तो वह बूढ़े लोगों की तरह निकम्मा होकर पुराने अनुभवों के विषय को सोचता रहता है, अथवा उन्हीं के आधार पर काल्पनिक सृष्टि बनाता रहता है।

बालक के रचनात्मक कार्यों से लाभ

रचनात्मक खेल खेलने से बालक की अनेक अवाञ्छनीय आदतों का जैसे कि अंगूठा पीना, शरीर को रगड़ना, कपड़ों में पेशाब करना आदि का अन्त हो जाता है। ये आदतें बालकों के मानसिक विकास की अवनति की सूचक हैं। जो बालक जीवन प्रवाह के साथ-साथ उन्नति नहीं करता वह अपने पार की गई अवस्था में फिर से रहने लगता है और उन सुखों की खोज करता है जो कि उस पार की गई अवस्था के होते हैं। बालक को उसकी बुरी आदतों को छोड़ने के लिए उपदेश, शिक्षा और ताड़ना देने की अपेक्षा उसे सृजनात्मक खेलों में लगाना अधिक लाभकारी होता है। सात वर्ष के बालक के समक्ष किसी काम को करने से उसे रोकने के लिए युक्तियाँ देना व्यर्थ है। इस आयु में न बालक में तर्क वितर्क करने की शक्ति होती है और न उसमें नैतिक, अनैतिक बातों को समझने

की शक्ति होती है। अतएव बालक को किसी काम से रोकने के लिए किसी प्रकार की युक्ति देना हमारे बाल-मन के विकास के अज्ञान को दर्शाता है। होमरलेन महाशय का कथन है कि यदि बालक किसी समय पूछे कि हमें अमुक काम क्यों न करना चाहिए, तो उसे इतना ही कहना पर्य्याप्त है—"क्योंकि हमारी ऐसी इच्छा है"।

यदि कोई बालक कोई तोड़ फोड़ का काम कर रहा है तो उसे तीन प्रकार से रोका जा सकता है—पहले उससे बरबस तोड़ने फोड़ने की चीज़ें छुड़ा ली जायँ; दूसरे उससे क्रोध के साथ सब चीजें छीन ही न ली जायँ, वरन् उसे पीटा जाय और उसे शिष्ट व्यवहार करने के लिए उपदेश दिया जाय, और तीसरे उसे दूसरे अनेक प्रकार के खेल दे दिये जायँ जिनमें कि वह अपनी शक्ति को काम में लगा सके। इन तीनों प्रकार के व्यवहारों का तीन भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। पहले प्रकार के व्यवहार से जिस काम से हम बालक को रोकते हैं उससे वह कुछ अवश्य रुक जाता है, पर उसकी उस काम को करने की इच्छा नष्ट नहीं होती। बालक के व्यक्तित्व को इससे हानि नहीं होती। दूसरे प्रकार के व्यवहार से बालक न सिर्फ सदाचारी नहीं बनता है, वरन् उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। तीसरे प्रकार के व्यवहार से एक ओर बालक के चरित्र में सुधार होता है और दूसरी ओर वह अपने आपकी सेवा करने को सदा तत्पर रहता है। अर्थात् एक ओर उसके चरित्र और बुद्धि में विकास होता है और दूसरी ओर वह अनेक रचनात्मक कार्यों को सीखता है जिससे वह परावलम्बी न बन कर स्वावलम्बी बन जाता है। अभिभावकों को चाहिए कि वे सदा यह देखें कि बालक की

सृजनात्मक क्रिया की गति का अवरोध न हो। बालक को यह बार बार न सुनना पड़े—"यह मत करो, वह मत करो", वरन् हर समय उसे अपने काम में प्रोत्साहन ही मिलता रहे।

जब बालकों के मन में कल्पना शक्ति जागृति होती है तो वे ऐसे खेल खेलते हैं जो उनके काल्पनिक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। बालक जब किसी मोटरकार आदि को अपने साथ पीछे घसीटता है तो वह एक विशेष आनन्द की अनुभूति करता है। घसीटते समय उसका खिलौना टूट-फूट जाता है पर बालक इससे दुःखी नहीं होता। बालक अपनी इच्छा से खिलौना नहीं तोड़ता। यदि वह खेलते समय फूट जाय तो बालक इसकी परवाह नहीं करता। वास्तव में बालक की रुचि खिलौने में नहीं, वरन् अपनी शक्ति के प्रकाशन में है। माता पिता बालक को सुन्दर सुन्दर खिलौने देते हैं और आशा करते हैं कि वह खिलौनों को सुरक्षित रखेंगे। खिलौनों के टूटने पर बालक को डाँटते हैं। पर ऐसा व्यवहार एक मनोवैज्ञानिक भूल है। प्रौढ़ व्यक्तियों का उनकी चीज़ों के प्रति जैसा प्रेम है उससे भिन्न बालकों का प्रेम अपने खिलौने से है। प्रौढ़ व्यक्तियों का प्रेम संग्रहात्मक होता है; बालकों का प्रेम सृजनात्मक होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का प्रेम वस्तुओं के भविष्य में काम आने से सम्बन्ध रखता है; बालक का प्रेम अपनी वस्तुओं से वर्तमान में काम आने से सम्बन्ध रखता है। एक तरह से बालक अपनी वस्तु के प्रति प्रेम प्रौढ़ के अपनी वस्तु के प्रति प्रेम से उच्चकोटि का है। कितने ही लोग पुस्तकों को पढ़ने के लिए नहीं, वरन् स्वामी भाव की अनुभूति के लिए एकत्रित करते हैं। इसी तरह बहुत लोग धन उपयोग के लिए नहीं, वरन् अभिमान के लिए सञ्चित करते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति अपनी

वस्तुओं के प्रति प्रेम प्रायः स्वामी भाव से प्रेरित होकर करता है, किन्तु बालक का प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम उसकी वर्तमान समय में उपयोगिता मात्र की दृष्टि से होता है। जिससे वह खेल नहीं सकता वह वस्तु उसके लिए व्यर्थ है। अर्थात्, किसी वस्तु को तोड़ने फोड़ने में ही बालकों को उस वस्तु की कीमत है।

देखा गया है जिस खिलौने के बनाने व बिगाड़ने में बालक का भी अधिक हाथ नहीं रहता, उसमें उसकी अधिक रुचि नहीं रहती। बालक उसी समय तक खिलौने में रुचि रखता है जब तक वह उसके कलपुर्जों को ठीक ठीक नहीं जान लेता। जब बालक किसी खिलौने के कल पुर्जे और उसके काम करने की शक्ति से परिचित हो जाता है तो उसमें रुचि नहीं दिखाता; जिस खिलौने से वह प्रसन्नता से खेल रहा था उसी खिलौने को वह पत्थर से तोड़ने लगता है। यदि किसी बालक को घड़ी दे दी जाय तो थोड़ी देर तक वह उसे लेकर घूमेगा, उसकी आवाज सुनने को उसे अपने कान के पास लगायेगा, किन्तु थोड़ी देर के बाद वह उसका शीशा और सूई निकालने की चेष्टा करने लगेगा। यदि वह इन्हें सरलता से न निकाल सका तो वह घड़ी को पत्थर से तोड़ देगा। बालक के इस प्रकार की प्रवृत्ति को हम बुरा समझते हैं, किन्तु उसकी यही प्रवृत्ति उसके जीवन के विकास के मूल में है। यदि बालक में वस्तुओं को फोड़ने तोड़ने की इच्छा न होती तो न तो वह बाह्य संसार का पर्याप्त ज्ञान कर पाता और न वह अपने आपकी शक्ति से परिचित होता। बालक इस प्रकार के कार्यों में एक विलक्षण आनन्द की अनुभूति करता है जिसे नवीन मनोवैज्ञानिकों ने सृजनात्मक आनन्द कहा है। यही आनन्द प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अद्भुत कार्यों का मूल श्रोत है। जो व्यक्ति जितना ही

इस आनन्द का अनुभव करता है उसका जीवन उतना ही सुविकसित होता है।

बालक प्रत्येक कार्य आत्मस्फूर्ति से करता है। वह विरला ही कार्य वाध्य होकर करता है। आत्मस्फूर्ति से किया गया कार्य भी मानसिक शक्तियों का विकास करता है। बाध्य होकर किये गये कार्य मानसिक शक्ति का विकास न कर उसका ह्रास करते हैं। अतएव बालक के खेलों में जितना ही प्रौढ़ व्यक्ति प्रोत्साहन देते हैं वे उतना ही उसके व्यक्तित्व को बनाने में सहायता देते हैं। बालक के आत्म-प्रकाशन में अत्यधिक रुकावट डालने से उसकी कार्य करने की शक्ति नष्ट ही नहीं होती, वरन् वह कुछ काल के लिए अन्तर्धान हो जाती है, किन्तु पीछे वह गुप्त रहकर बालक के अनेक प्रकार के दुराचरणों तथा मानसिक और शारीरिक बीमारियों में प्रकट होती है।

सातवाँ प्रकरण

चरित्र गठन

चरित्र गठन के अंग

बालक के व्यक्तित्व के गठन में दो प्रकार के संस्कार कार्य करते हैं। एक जन्मजात और दूसरा अर्जित। कितने मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि मनुष्य के मानसिक बनावट में उसके परम्परा-गत प्राप्त किये संस्कार उतने ही प्रभावशाली होते हैं जितने कि वे उसके शारीरिक बनावट में प्रभावशाली होते हैं। अर्थात्, बालक न केवल अपने पिता से शरीर ही प्राप्त करता है वरन् अपनी बुद्धि और चरित्र को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार की धारणा के प्रतिकूल कुछ शिक्षा-वैज्ञानिकों ने आज से पचास वर्ष पूर्व आवाज उठाई थी। हेवर्ड महाशय का कथन है कि मानसिक पैतृक सम्पत्ति एक कल्पित वस्तु है : ज्यों ही हम इस कल्पना की छानबीन अपने विवेक द्वारा करते हैं त्योंही वह पूर्णतः निराधार सिद्ध होती है।*

कितने लोग अपनी आदतों अथवा चरित्र के गुण और अवगुण के विषय में कहा करते हैं कि यह आदत मेरे पिता

---

* "Mental heredity is a spectre which vanishes as soon as we get beyond mathematical abstractions to concrete facts of every day life."

को भी थी, अतएव मुझे अवश्य उनसे प्राप्त हुई होगी। कुछ दूसरे लोग यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का स्वभाव बड़ा खराब है। वह बड़ा दुष्ट है, उसकी दुष्टता अवश्य ही उसके जन्म के साथ आई है। किसी गुण को जन्मजात सिद्ध करने के लिए प्रायः यह कहा जाता है कि वह बहुत दिन से उसके चरित्र में उपस्थित है, अतएव यह उसकी पैतृक सम्पत्ति है। इस प्रकार का कथन नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश के अभाव में प्रमाणिक मानना साधारण सी बात है। पर नवीन मनोविज्ञान ने इस प्रकार की धारणा में एकाएक परिवर्तन कर दिया है। नवीन मनोविज्ञान अपनी विश्लेषण की क्रिया द्वारा मनुष्य के उस मानसिक स्तर तक पहुँच जाता है जो व्यक्ति के शैशव काल के संस्कारों से बना हुआ रहता है। नवीन मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य के उन उद्वेगात्मक अनुभवों का ज्ञान कर लिया है जो उसे ऐसे समय हुए थे जब वह न बोल सकता था और न कुछ विचार कर सकता था। मनुष्य के पाँच वर्ष तक का जीवन हम महत्व हीन समझते हैं किन्तु वास्तव में यह काल महत्वहीन नहीं है। मनुष्य के व्यक्तित्व के बनने में यही काल बड़े महत्व का होता है।

शैशवकाल की घटनाओं का महत्व

व्यक्ति के जीवन में उसकी पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व अनेक ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं जिसकी उसे बिल्कुल ही स्मृति नहीं रहती, किन्तु जो उसके जीवन पर भारी प्रभाव डालती हैं। इस काल में बालक प्रायः अचेतन अवस्था में रहता है, वह विचारहीन और विवेक हीन रहता है। किन्तु उसके उद्वेग बड़े प्रबल होते हैं। अतएव उसे जो अनुभव इस

काल में होते हैं वे इतने प्रबल होते हैं कि वे जन्मजात गुण जैसे भासित होते हैं। व्यक्ति के अचेतन मनमें उसके शैशव-काल के संस्कार दृढ़ता से स्थित रहते हैं। ये संस्कार उसके स्वभाव के अङ्ग बन जाते हैं। उसके चरित्र के गुण-दोष इन्हीं के कारण होते हैं। साधारण मनोवैज्ञानिक इस प्रकार के मनो-विकारों की कल्पना नहीं करता। बालक के चरित्र की जड़ की खोज वह बालक के उसी काल में करता है जब कि बालक में विचार करने की शक्ति का उदय हो जाता है और वह विवेक-शील हो जाता है। मनोविश्लेषक इसके प्रतिकूल बालक के चरित्र की जड़, उस काल में खोजते हैं जब बालक में न विचार करने की शक्ति रहती है और न वह भले बुरे को सोच सकता है, अर्थात् जब उसका जीवन एक तरह से चेतना हीन रहता है। पुराने मनोवैज्ञानिक ऐसी कोई विधि नहीं जानते थे जिससे वे किसी व्यक्ति के शैशव काल के संस्कारों को जान सकें, किन्तु नवीन मनोविज्ञान ने ऐसी अनेक विधियों का अन्वेषण किया है जिनके द्वारा हम व्यक्ति के उस काल के संस्कारों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जब कि वह माता की गोद में खेलता रहता है अथवा पालने में झूलता है। संमोहन की क्रिया के द्वारा मनो-विश्लेषक व्यक्ति के उसकाल के अनुभव का पता चला लेता है जो उसके शैशव काल में हुए थे। अर्थात् सम्मोहन के द्वारा इन अनुभवों के संस्कार अचेतन मन से उठाकर चेतना के समक्ष लाये जाते हैं।

अर्जित संस्कारों का महत्व

जब कभी इस तरह मनुष्य के बचपन के संस्कारों को जो उसके अचेतन मन के किसी कोने में पड़े हैं, पता लगाया जाता

है तो देखा जाता है कि उसके चरित्र के बहुत से गुण व दोष जिन्हें हमने पैतृक सम्पत्ति मान रक्खा है, वास्तव में वातावरण के कारण उत्पन्न हुए हैं। नवीन मनोविज्ञान की खोज यह दर्शाती है कि मनुष्य के चरित्र का कोई विरलाही दोष उसे परम्परागत प्राप्त होता है, अर्थात् जन्मजात होता है। बुद्धि की कमी जो दिमाग के किसी भाग के दूषित रहने के कारण उत्पन्न होती है, अवश्य जन्मजात होती है। उदाहरणार्थ—किसी पैतृक बीमारी के कारण किसी किसी बालक की बुद्धि कुंठित रहती है ; उसके विकास के लिए चाहे जितना प्रयत्न क्यों न किया जाय वह कदापि उतनी विकसित नहीं होती जितनी अन्य साधारण बालक की बुद्धि विकसित होती है। इस प्रकार की बुद्धि के दोषों को मानसिक दोष न समझ कर शारीरिक दोष समझना चाहिए। मनुष्य के चरित्र के दोष अवश्य मानसिक दोष हैं। विरले ही मनुष्य के चरित्र के दोषों का सम्बन्ध शारीरिक कमी से होता है। जहाँ किसी मानसिक दोष का सम्बन्ध शारीरिक कमी से नहीं होता, वहाँ उस दोष की जड़ पैतृक संस्कारों में मानना निराधार है। ऐसे दोषों की जड़ें प्रायः वातावरण के संस्कारों में ही पाई जाती हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि कुछ दृष्टान्तों से की जाती है जो हेडफ़ील्ड महाशय ने अपनी पुस्तक 'साइकॉलोजी एण्ड मारल्स' में दिये हैं।

एक व्यक्ति की दूध के प्रति भारी अरुचि थी। उसकी अवस्था २८ वर्ष की थी। जब जब उसे दूध पीने का अवसर मिलता था वह कभी दूध नहीं पी सकता था। ऐसा कोई भी समय उसे स्मरण न था जब कि वह ठीक से दूध पी सका हो। डाक्टर लोग उसकी इस प्रकार की मानसिक अरुचि को जन्म-

जात समझते थे और इसका कारण शारीरिक बनावट की कोई कमी समझते थे। यह व्यक्ति अनायास हेडफील्ड महाशय के पास जो मनोविश्लेषक हैं गया। मनोविश्लेषक ने सम्मोहन के द्वारा उसके सुप्त संस्कारों को जागृत करने की चेष्टा की। इन संस्कारों के चेतना के समक्ष आने पर पता चला कि इस व्यक्ति को जब वह तीन वर्ष का था, एक बड़ी कटु ओषधि दूध के साथ दी गई थी। वह इस दवा को पीना ही नहीं चाहता था। ज्योंही यह दवा उसके मुँह में डाली जाती थी वह उसे मुँह से उगल देता था। उसने पाँच वार ऐसा ही किया। छठें बार डाक्टर ने ज्योंही उस दवा को दूध के साथ मुँह में डाला, उसके मुँह के दोनों जबड़ों को पकड़कर दवा दिया जिससे कि वह दवा बाहर न फेंक सके। डाक्टर के ऐसे प्रयत्न करने पर उसे बहुत दुःख हुआ और उसका दम घुटने लगा। अब दूध का स्वाद उस व्यक्ति की इस मानसिक अवस्था से सम्बद्ध हो गया। वह इस घटना को भूल गया था, किन्तु दूध के साथ इस दुःख के संस्कार सदा के लिए उसके अदृश्य मन में बैठ गये थे। इन संस्कारों के कारण उसके मन में दूध के प्रति इतनी अरुचि हो गई थी कि उसे दूध पीना असम्भव था, जिस समय इन अवांछनीय संस्कारों का पता चला और दूध का सम्बन्ध पुराने कटु अनुभव से टूट गया तो इस व्यक्ति की दूध के प्रति अरुचि भी मिट गई जो कि पचीस साल से उसके मनमें वर्तमान थी। इस व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थि खुलते ही दूध पीने में उसे कोई भी रुकावट न रही। उसके मनोविश्लेषण के तुरन्त ही बाद उसने एक गिलास दूध पिया। यह उसे बहुत ही अच्छा लगा। वह कह उठा—यह दूध, दूध जैसा लगता ही नहीं। यहाँ हम देखते हैं कि उसकी झक का

कारण कोई जन्मजात बात न थी, किन्तु वातावरण जन्म संस्कार थे।*

उपर्युक्त घटना धनी घर के बालकों की दूध के पीने में अरुचि उत्पन्न होने पर महत्व का प्रकाश डालती है। पाठकों ने देखा होगा कि अनेक धनी घरों के बालक दूध नहीं पीना चाहते। दूध के बदले वे चाय पीना पसन्द करते हैं। कितने ही लोग उनकी इस रुचि को जन्म जात मान लेते हैं। हम कभी कभी सोचने लगते हैं कि धनी घर के बालकों का परम्परागत ऐसा स्वभाव ही बन जाता है कि दूध के प्रति उनकी अरुचि हो। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। नवीन मनोविज्ञान का अध्ययन दर्शाता है कि ऐसे बालकों की दूध के प्रति अरुचि का कारण बालक के मन में उपस्थित ग्रन्थि होती है, जो माता पिता अथवा अभिभावकों की नादानी के कारण उत्पन्न होती है। धनी लोग अपने बालकों को खूब खिला पिला कर जल्दी से जल्दी मोटा ताजा कर देना चाहते हैं डाक्टर अथवा अन्य लोगों से वे सुनते रहते हैं कि बालकों के लिए सबसे अधिक पौष्टिक पदार्थ दूध है। अतएव वे दूध पिलाने में बहुत ही उतावलेपन से काम लेते हैं और बालक की इच्छा न रहने पर भी उसे बरबस दूध पिलाते हैं। बालक को यदि उसी समय दूध दिया जाय जब उसे भूख लगी हो तो उसे दूध स्वादिष्ट मालूम होगा और उसके स्वास्थ्य को भी लाभकारी होगा। किन्तु भूख न रहने पर और बालक की रुचि के विरुद्ध जब उसे दूध पिलाया जाता है तो उसके मन में दूध के प्रति जन्म भर के लिए घृणा उत्पन्न हो जाती है। कोई वस्तु कितनी ही स्वादिष्ट क्यों न हो, जब उसे इच्छा के

* Hadfield : *Psychology and Morals*, P. 10.

विरुद्ध खाना पड़ता है तो वह कदापि रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकती। उसका सम्बन्ध बालक के अपमान के साथ हो जाता है और उसके देखते ही वालक के मन में अवांछनीय संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। अतएव ऐसी चीजों को व्यक्ति अपने सामने भी नहीं आने देता।

कितने ही लोग चाय में भी गाय का दूध डालना नहीं पसन्द करते। इसके बदले वे टीन के डब्बों में आया हुआ विलायती दूध (कन्डेन्स्डमिल्क) पसन्द करते हैं। उनकी इस प्रकार की झक का कारण भी उनके बचपन के संस्कार हैं। लेखक का एक धनी घर का शिष्य जब कभी दूध पीता था तो उसे देर तक गरम करवा कर और उसके बाद कपड़े से छनवाकर पीता था, जिससे दूध के साथ मलाई न चली जाय। उसकी इस झक का कारण भी उसके विचित्र प्रकार के वातावरण के संस्कार ही थे। धनी लोग प्रायः स्वयं दूध नहीं पीते। वे स्वयं चाय पीते हैं उसमें जो दूध डाला जाता है उसकी मलाई फेंक दी जाती है। बालक भी वही करना चाहता है जो कि घर में बड़े समझे जानेवाले लोग करते हैं, क्योंकि वह स्वयं छोटा कहा जाना पसन्द नहीं करता; बल्कि बड़ा कहा जाना पसन्द करता है। वह शीघ्रातिशीघ्र बड़ा हो जाना चाहता है। अतएव वह उन सभी बातों को स्वयं करना चाहता है जो घर के प्रतिष्ठित लोग, विशेषकर उसका पिता करते हैं। यदि बालक का पिता दूध नहीं पीता तो लड़का क्यों पिये ; यदि वह दूध लेते समय मलाई निकाल देता है तो बालक भी ऐसा ही क्यों न करे? बालक को अपने पिता के अनुसार आचरण करने से रोकना उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाना है। ऐसा करने से बालक के मन में अनेक प्रकार

की अवांछनीय मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण बालक हठी, झक्की, दगाबाज झूठ बोलनेवाला, चोर अथवा उद्दण्ड हो जाता है। कितने ही बालक कुछ रोचक वस्तुओं को इसलिये नहीं चाहते, कि उन्हें बालक के लिये माता पिता ने अपनी मूर्खता के कारण अरोचक बना दिया है। इसी प्रकार कितने ही बालक किसी अवांछनीय, अनुचित कार्य को इसी लिये करते हैं, कि उस काम को करने से उन्हें रोका जाता है।

बालक के चरित्र गठन में वातावरण का कितना महत्वपूर्ण प्रभाव है यह तभी ठीक से जाना जाता है, जब कि हम उसकी शैशव-काल के संस्कारों का भावी जीवन पर प्रभाव अध्ययन करलें। यहाँ हेडफील्ड महाशय का एक और उदाहरण उल्लेखनीय है जिससे स्पष्ट होता है कि वातावरण के संस्कार उतने प्रभावशाली हो सकते हैं जितने उसके जन्म-जात संस्कार होते हैं; कितने ही वातावरण के संस्कारजन्य गुण मनुष्य के जन्मजात गुण मान लिये जा सकते हैं।

एक व्यक्ति को हाथ में अचानक भारी पीड़ा हो जाती थी। यह पीड़ा उसे तभी होती थी, जब वह कठिन शारीरिक या मानसिक कार्य करता था। पीड़ा के कारण का कोई पता नहीं चलता था। मानसिक कार्य और हाथ के दर्द से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसके पिता को भी इसी प्रकार का हाथ का दर्द होता था। अतएव इस व्यक्ति के हाथ के दर्द को वंश-परम्परागत संस्कार मान लिया गया था। जिस रोग को वंश-परम्परागत मान लिया जाता है उसकी चिकित्सा का मार्ग भी बन्द हो जाता है। जब उक्त रोगी का मनोविश्लेषण किया गया तो उसके रोग की जड़ उसके तीन वर्ष की अवस्था के

दुःखद अनुभव में पाई गई। इस व्यक्ति के शैशव-काल में इस व्यक्ति को अपने पैर में भारी चोट लग गई थी जिसके कारण उसमें एक घाव हो गया था। जब डाक्टर इस रोगी के घाव को साफ कर रहा था तब उसका पिता उसे बरबस पकड़े हुए था। इसी समय पिता को हाथ का भी दर्द हो रहा था। पिता के हाथ का दर्द अब बच्चे पर पहुँच गया। इस दर्द का सम्बन्ध बालक के मन में ऐसे वेदनात्मक अनुभव से हो गया जिसमें बालक भारी कठिनाई को दूर करने की व्यर्थ चेष्टा कर रहा था। यह घटना उस व्यक्ति के मन से विस्मृत हो चुकी थी किन्तु उसके संस्कार उसके मन में सदा के लिये अङ्कित हो गये थे। इन संस्कारों के अनुसार बहुत भारी कठिनाई का सामना करना और हाथ का दर्द एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हो गये। अतएव इस व्यक्ति के बाद के जीवन में जब कभी उसे अत्यधिक शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम करना पड़ता था, अर्थात् जब कभी वह किसी असम्भव कठिनाई को हल करने की चेष्टा करता था, तब ऐसी कठिनाई का सम्बन्ध हाथ के दर्द के साथ होने के कारण हाथ के दर्द की भी पुनरावृत्ति हो जाती थी। यहाँ हम देखते हैं कि इस रोगी का दुःख किसी जन्मजात कारण से नहीं था, यद्यपि ऐसा दर्द उसके पिता को भी था। इस व्यक्ति के इस दर्द के विषय में कहा जाता था कि वह जन्मजात था, किन्तु मनोविश्लेषण से पता चला कि उसका कारण वातावरण के संस्कारों में था।

कई एक लोग जन्म से ही घमण्डी स्वभाव के होते हैं। इनके विषय में प्रायः सोचा जाता है कि बड़े घरानों में पैदा होने के कारण घमण्ड करना उनका जन्मजात गुण है, अर्थात् भग-

वान ने उन्हें बड़े घर में पैदा इसीलिए किया है कि वे विशेष शान को रख सकें; शान उनका पैतृक गुण है। ऐसे लोग, जो अपने आपको खान्दानी अथवा कुलीन मानते हैं, साधारण व्यक्तियों को हेय दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार का एक व्यक्ति जिसके मनमें कुल की शान का विचार अत्यधिक बढ़ गया था हेडफील्ड महाशय के पास आया। उन्होंने उसका मनोविश्लेषण किया, जिससे पता चला कि उसके घमण्डी होने का कारण उसके मनमें आत्महीनता की भावनाग्रन्थि की उपस्थिति थी। बचपन में यह व्यक्ति बड़ा ही नाजुक और कमजोर था। उसके माता पिता ने उसे प्रोत्साहन देने के लिए उसके मन में यह धारणा पैदा की कि उसका शरीर अन्य व्यक्तियों के शरीर से विभिन्न तत्वों का बना हुआ है। उसके मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि उसके नसों में जो खून बहता है वह दूसरी प्रकार का है, अतएव दूसरे लोगों के समान शारीरिक परिश्रम के कामों के लिये उसे नहीं बनाया गया है। यह व्यक्ति सदा अड़चन के कामों से जी चुराया करता था और वास्तव में डरपोक था। किन्तु इन दुर्गुणों को वह अपना गुण मान बैठा था। उसका विश्वास था कि उसके ये गुण जन्मजात हैं, पर वास्तव में ये गुण जन्मजात न थे। घमन्ड का भाव उसके जन्म के साथ नहीं आया था, वह माता पिता की मूर्खता से उसके ऊपर लाद दिया गया था।

यह बात सत्य है कि मनुष्य अपने बहुत से चरित्र के गुणों को माता पिता से प्राप्त करता है; किन्तु इस प्रकार से उसको गुणों का प्राप्त करना वंशानुक्रम के कारण नहीं होता, वरन् बचपन के अनुकरण अथवा निर्देश के कारण होता है। किसी भी व्यक्ति के मनोविश्लेषण के द्वारा उक्त कथन की

प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। कितने ही लोगों को ऐसे विषय में रुचि होती है; जिसमें कि उसके पिता की रुचि होती है। चोर पिता के लड़के की प्रवृति चोरी करने की हो जाती है और शिक्षित पिता के लड़के की प्रवृति शिक्षा प्राप्त करने की। ऐसी प्रवृति होने का प्रधान कारण बालक के पिता का अनुकरण करना मात्र है; अर्थात् बालक के चरित्र के इन गुणों का कारण वंशानुक्रम नहीं वरन् वातावरण के संस्कार हैं। अब यह निर्विवाद माना जाने लगा है कि चरित्र के ऐसे दोष जैसे चिड़चिड़ा स्वभाव, घमण्डीपना, नीचता, शराबी-पन, व्यभिचार आदि जन्मजात नहीं हैं, वरन् वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। कुछ डाक्टरों का तो कथन है कि बहुत सी बीमारियाँ जैसे क्षयरोग, दमा आदि जिन्हें वंशानुक्रम गत मान लिया जाता है, बातावरण के कारण उत्पन्न होते हैं। वंशानुक्रम के कारण मनुष्य को विशेष प्रकार की बीमारी से पकड़ जाने की सम्भावना अवश्य होती है, किन्तु बीमारी स्वयं वंशानुक्रम के कारण नहीं आती। नवीन मनोविज्ञान की खोजें दिन प्रति दिन बालक के व्यक्तित्व के बनने में वातावरण के महत्व को अधिकाधिक दर्शाती हैं और वंशानुक्रर्य के महत्व को घटाती जाती हैं।

बातावरणके प्रभावकी महत्ता जानने से लाभ

वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव के विषय में हमारा दृष्टिकोण बदलने से बड़ा भारी व्यवहारिक लाभ होता है। यदि कोई मनुष्य यह मान बैठे कि उसकी किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक बीमारी जन्मजात हैं तो उस व्यक्ति को उस बीमारी से मुक्त होना असम्भव हो जाता है।

पहले तो बीमारियों की उपस्थिति ही मनुष्य की किसी प्रकार की जिम्मेदारी से बचने के लिये होती है। बीमारी को जन्मजात मान लेने पर बीमारी के रहने के कारण जो अकर्मण्यता मनुष्य में आ जाती है वह स्थायी हो जाती है। बीमारी को जन्मजात मानना यह मान बैठना है कि बीमारी किसी प्रकार अच्छी नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को कर्तव्य से च्युत होने के कारण जो आत्मग्लानि होती है, उसकी अनुभूति उसे नहीं होती। जो मनुष्य अपनी किसी विशेष बीमारी से मुक्ति नहीं चाहता वह सरलता से विश्वास कर लेता है कि उसकी बीमारी जन्म-जात है। अर्थात् उसे उसने वंशानुक्रम से प्राप्त किया है। इसी तरह यदि किसी चरित्र के दोष को जन्मजात मान लिया जाय तो उससे मुक्त होना असम्भव है। वास्तव में इस प्रकार की धारणा यह प्रदर्शित करती है कि वह व्यक्ति उन दोषों से मुक्त होना नहीं चाहता। यदि कोई मनुष्य यह विश्वास करे कि उसके चरित्र का दोष अथवा बीमारी वातावरण के कारण हुई है तो वह उनसे मुक्त होने की चेष्टा करेगा और इस प्रयत्न के कारण उनसे मुक्त भी हो जायगा। जिस बालक के माता पिता अथवा अध्यापक उसके चरित्र का सुधार नहीं करना चाहते वे उसे जन्म से ही शैतान मानकर आत्म-सन्तोष कर लेते हैं। इस तरह वे अपने कर्तव्य से वचने ही की चेष्टा करते हैं।

मनुष्य के जन्मजात स्वभाव में ऐसे अनेक तत्व होते हैं जिनके कारण उसके चरित्र के ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। जन्म से मनुष्य दो प्रकार की मानसिक सामग्रियों को प्राप्त करता है। एक मूल प्रवृति और दूसरे विशेष प्रकार की प्रकृति। भिन्न २ मनुष्यों की जन्म से भिन्न २ प्रकार की प्रकृतियाँ

होती हैं। कितने ही लोग जन्म से ही चंचल प्रकृति के और कितने ही गम्भीर प्रकृति के होते हैं। किन्तु किसी विशेष प्रकार की प्रकृति कहाँ तक व्यक्ति के जीवन को सफल बनावेगी यह उसकी प्रकृति पर नहीं, वरन् वातावरण और शिक्षा पर निर्भर है। कितने ही चंचल प्रकृति के लोग प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं और कितने ही पागलखानों में अपना जीवन बिताते हैं। थोड़े ही में क्षुब्ध हो जानेवाले लोग बड़े बड़े कलाकार कवि अथवा साहित्यिक होते हैं, अथवा ऐसी ही प्रकृति के लोग शराबी, आत्महत्या करनेवाले अथवा पागल होते हैं*। हेडफील्ड महाशय का कथन है कि जहाँ एक ओर मानसिक झंझटवाले लोग संसारके ऊपर भार होते हैं वहाँ दूसरी ओर ये ही लोग संसार की शोभा बढ़ानेवाले भूषण होते हैं। वातावरण अथवा शिक्षा के ऊपर यह निर्भर है कि कोई बालक संसार को चकित करनेवाली प्रतिभा का प्रदर्शन करेगा अथवा पागलखाने में जीवन व्यतीत करेगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि मनुष्य के चरित्र के गुणों की जड़ उसके बचपन के संस्कारों में होती है जिस तरह उसकी बहुत सी बीमारियों की जड़ उसके बचपन के संस्कारों में होती हैं। बालकों के चरित्र के दोष कभी-कभी एकही संवेग पूर्ण अनुभव के कारण उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी ये दोष उसके बचपन के सम्पूर्ण वातावरण के दूषित होने के कारण होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को अपने बचपन में बलात्कार का

---

* If nervous people are the 'crocks' of the earth, they are also the salt of the earth. A neurotic is often a potential genius.

—*Psychology and Morals*, P. 14.

अनुभव हुआ हो तो वह जन्म भर डरपोक और दब्बू बन जाता है। कितनी ही स्त्रियों के मानसिक नपुंसकता अथवा हिस्टीरिया की बीमारी का कारण बचपन में उनपर किये गए बलात्कार का अनुभव होता है। व्यक्ति अपने बचपन के कटु-अनुभव को भूल जाता है, किन्तु जितना ही ऐसे अनुभवों की स्मृति दबी रहती है उतने ही अधिक वह चरित्र को दूषित बनाती है और अनेक प्रकार की बीमारियों का कारण बन जाती हैं।

साधारणतः बचपन के किसी एक विशेष अनुभव के कारण चरित्र दोष नहीं होते, वरन् बचपन के सम्पूर्ण वातावरण के कारण ये चरित्र के दोष उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार बूँद २ पानी गिरने से तालाब और झील भर जाती है उसी प्रकार बालक के जीवन की प्रतिदिन की छोटी छोटी घटनाएँ उसके चरित्र को बनाती हैं। यह सत्य है कि किसी भी घटना का बालक के स्वभाव पर प्रभाव तुरन्त नहीं दिखाई देता, पर ये घटनायें बालक के जीवन पर अपना संस्कार छोड़ जाती हैं, जो आगे चलकर मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न करते हैं। ये मानसिक ग्रन्थियाँ जीवन में किसी विशेष प्रकार की घटना होने-पर प्रबल नैतिक अथवा शारीरिक बीमारियों में प्रकट होती हैं। इस तरह देखा गया है कि प्रौढ़ावस्था की अनेक बीमारियों और दुराचरणों की जड़ व्यक्ति की बचपन के अनुभवों में होती हैं।

आठवाँ प्रकरण

निर्देश

निर्देश के प्रभाव की महत्ता

बालक के व्यक्तित्व के विकास में निर्देश बड़े महत्व का कार्य करता है। प्रत्येक मनुष्य के चरित्र पर उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना असंगठित होता है; उतना ही अधिक वातावरण का प्रभाव उस पर पड़ता है। वातावरण भौतिक पदार्थों, समाज के मनुष्यों, उनके प्रकाशित और अप्रकाशित विचारों से बनता है। भौतिक पदार्थों की अपेक्षा विचारों का वातावरण अधिक प्रभावशाली होता है। प्रकाशित विचार जितना मनुष्य के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं उससे कहीं अधिक अप्रकाशित विचार प्रभाव डालते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति बालक की श्रद्धा है, वह यदि बालक के प्रति भली भावना न रखे तो वह अवश्य ही बालक के व्यक्तित्व को हानि पहुँचावेगा। बालक के विषय में हम अच्छे विचार रखकर उसे भला बना सकते हैं; और उसके विषय में बुरे विचार रख कर उसे बुरा बना देते हैं। हम जैसी धारणा बालक के विषय में रखते हैं, बालक वैसा ही बनता जाता है।

माता पिता के निर्देशों का परिणाम

कितने लोग बालकों को भार रूप मानते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विषय में भली धारणा नहीं रखते। जिन पति-पत्नियों में गहरा प्रेम नहीं होता उनमें अपने बालकों के प्रति भी घनिष्ठ प्रेम नहीं होता। ऐसी स्थिति में बालकों के विषय में पिता का अच्छी धारणा न होना स्वभाविक है। इस धारणा के अनुसार ही बालक बनते हैं। जिन पिताओं के हृदय में बालक के प्रति अच्छी धारणा नहीं होती वे प्रायः उनके व्यवहार से चिढ़ने लगते हैं, उनकी सदा नुक्ताचीनी किया करते हैं। वे अपने आपको बड़ा ऊँचा मानते हैं और वे अपने बालकों के आचरण-सुधार के विषय में ही सदा चिंतित रहते हैं। उन्हें भय रहता है कि हमारे बालक कहीं बिगड़ न जायँ और इसलिए वे उन्हें अपनी चिंता और सुधार की उत्सुकता से ही बिगाड़ देते हैं।

लेखक ऐसे विद्वान युवक से परिचित है जो इस समय विज्ञान के क्षेत्र में प्रशंसनीय काम कर रहा है। इस युवक ने विदेश जाकर शिक्षा ग्रहण की और विदेश के विद्वानों से प्रशंसा पाई। इसने भारतवर्ष में एक नये यंत्र को यहाँ के एक विश्वविद्यालय में स्थापित किया, जिसके द्वारा विज्ञान के एक सूक्ष्म विषय पर खोज की जा रही है। जब यह युवक हाई स्कूल की शिक्षा प्राप्त कर रहा था उस अवस्था में लेखक को उससे मिलने का अवसर मिला था। वह बड़ा सुशील और प्रतिभाशाली बालक जान पड़ा। उसने कालेज में पहुँचते ही अपने विशेष अध्ययन के विषय के अतिरिक्त कितने ही और विषयों का अध्ययन कर लिया था। उसकी जानकारी देख लेखक चकित होता था।

इस प्रतिभा का कारण क्या था ? इसका कारण वंशानुक्रम का प्रभाव ही न था। यह बात सत्य है कि उस बालक के माता-पिता विद्वान हैं और उनके आचरण प्रशंसनीय हैं, पर इसका प्रधान कारण माता-पिता का उस बालक के प्रति व्यवहार था। वह घर का सबसे बड़ा बालक था। अतएव उस पर सबसे अधिक पिता और माता का प्यार था। उसके पिता की उस बालक के विषय में बड़ी ही अच्छी धारणा थी। वे उस बालक की प्रशंसा अपने मित्रों से भी करते थे। उसकी शिक्षा में वे स्वयं रुचि दिखाते थे, उसके लिए परिश्रम करते थे। वास्तव में हम उसी व्यक्ति की सेवा में परिश्रम कर सकते हैं जिसके गुणों में हमारी श्रद्धा हो। जिसकी कीर्ति के विषय में हमारी धारणा ठीक नहीं होती उसकी सेवा करना भार हो जाता है। यह अपने माता-पिता की सद्भावना का परिणाम है कि उक्त बालक का जीवन सुविकसित हुआ।

इसके प्रतिकूल यह भी देखा गया है कि बहुत से योग्य समझे जानेवाले लोगों की संतान दुष्चरित्र हो जाती है और संसार को अपनी सेवा से कोई लाभ नहीं पहुँचाती है। संतान का इस प्रकार दुष्चरित्र होना माता-पिता की किसी प्रकार की त्रुटि के कारण होता है। अति लोभी लोगों की संतान सुयोग्य नहीं होती, इसी तरह कामी और क्रोधी लोगों की संतान दुष्चरित्र होती है। लोभी मनुष्य को अपनी संतान की सेवा करने के लिए समय नहीं मिलता। वास्तव में वह उसके प्रति अपना प्रेम-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता! प्रेम की कसौटी त्याग है। जो मनुष्य किसी व्यक्ति को जितना प्यार करता है वह उस व्यक्ति की सेवा में उतना अधिक त्याग

कर सकता है। महात्मा गांधी का कथन है 'सच्चे प्रेम की परीक्षा दुख भोगने में है।' इस कथन की सत्यता अनुभव से ही जानी जा सकती है।

क्रोधी मनुष्य शीघ्र ही अपनी संतान से बैर भाव स्थापित कर लेता है और कामी मनुष्य संतान को भार रूप मान लेता है। इन बुरे मनोभावों का परिणाम बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है। पिता अथवा शिक्षक अपनी मन की झंझटों के कारण जैसे बालकों के विषय में सोचते हैं बालकगण वैसे ही बनते जाते हैं। यह एक आध्यात्मिक सत्य है कि हम जिस मनुष्य के प्रति जैसी भावना रखते हैं वह हमें वैसा ही दिखाई देने लगता है।

संसार के सभी बालक हरि मूरत हैं। हम यदि उन्हें हरि के रूप में देखें तो हमें वे हरि के रूप और यदि हम उन्हें शैतान के रूप में देखें तो वे शैतान ही बन जावेंगे। बालकों के विषय में ऊँची भावना न रख कर हम उनका कल्याण नहीं कर सकते। बालकों का पालना सरल काम नहीं है, यह ईश्वर की पूजा है। जब हम बालकों को देवी और देवता का रूप मानते है,. तभी हम उनका और अपना कल्याण कर सकते हैं।

कितने लोग घर के एक बालक के प्रति प्रेम और दूसरे के प्रति उपेक्षा दिखाते हैं। उनका इस प्रकार का व्यवहार दोनों बालकों के लिए बुरा होता है। कितने हिन्दू घरों में लड़कों का लड़कियों की अपेक्षा अधिक सम्मान होता है। इस तरह का व्यवहार लड़की के व्यक्तित्य को बिगाड़ता है। वह अपने भाई के प्रति ईर्ष्यालु हो जाती है। यह ईर्ष्या उसके जीवन में हीनता-सूचक भावना-ग्रथि का कारण बन जाती है। इससे सदा के लिये बालिका का जीवन दुखी हो जाता है।

जब बालक कोई काम बिगाड़ देता है तब हम कह उठते हैं कि यह बालक व्यर्थ है, निकम्मा है, इससे कोई काम न होगा, इस प्रकार के उसके आत्म-सम्मान को नष्ट करने वाले शब्द बालकों के प्रति कदापि न कहने चाहिये। अंग्रेजी में कहावत है कि जिस कुत्ते को तुम बदनाम कर देते हो उसे फिर मार ही डालना पड़ता है। बालकों की सेवा भार रूप मानना। उन्हें और अपने आपको आध्यात्मिक हानि पहुँचाना है। उनकी सेवा करने से हमें भारी अध्यात्मिक लाभ होता है; वे हम में जीने की इच्छा पैदा करते हैं और इस तरह हमारी आयु बढ़ाते हैं।

उपदेश और निर्देश की तुलना

बालक के व्यक्तित्व पर उपदेश और निर्देश दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। पर जहाँ उपदेश उसके चेतन मन को प्रभावित करता है, निर्देश उसके अचेतन मन पर प्रभाव डालता है। अचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा बहुत प्रबल है, अतएव उपदेश का प्रभाव उतना अधिक नहीं होता जितना कि निर्देश का होता है।

उपदेश और निर्देश देने की रीति में भेद होता है। उपदेश के लिए सुन्दर सुबोध भाषा की आवश्यकता होती है। उपदेश में विद्वता से काम लेना पड़ता है, अतएव जिस व्यक्ति की विद्वता जितनी अधिक होती है वह उतना अच्छा उपदेशक बन सकता है। निर्देश में विद्वता का कार्य बहुत कम होता है। निर्देश की भाषा हृदय की भाषा है। यह शब्दों के अतिरिक्त अनेक दूसरे प्रकार से प्रकाशित की जा सकती है। अपनी मुखाकृति और हावभाव से भी निर्देश प्रकाशित होते हैं?

इनका प्रभाव बालक के मस्तिष्क पर नहीं वरन् उसके अतःस्थल पर होता है; अर्थात् ये उसके अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। किसी व्यक्ति के हृदय को प्रभावित करनेके लिए हृदय की भाषा का उपदेश करना आवश्यक है।

यदि किसी व्यक्ति का बालक के प्रति प्रेम है तो उसके निदश, चाहे वे किसी प्रकार से दिये जावें, बालक ग्रहण कर लेता है और उसका आचरण उन निर्देशों के अनुसार बन जाता है। प्रेम एक हृदय का दूसरे हृदय के साथ सम्बन्ध स्थापिन का माध्यम है। इस माध्यम के अभावमें निर्देश प्रभावशाली नहीं होता। इतना ही नहीं, वह प्रति निर्देश को उत्पन्न करता है; अर्थात् हम जैसे विचार बालक के मन में उत्पन्न करना चाहते हैं और जिस प्रकार के आचरण की उससे आशा करते हैं, बालक उसके ठीक प्रतिकूल सोचता और आचरण करता है।

उपदेश का स्थायी प्रभाव उसके सहकारी निर्देश पर निर्भर करता है। जब किसी बालक के हृदय पर विजय प्राप्त करके, अर्थात् उससे वास्तविक प्रेम सम्बन्ध स्थापित करके हम कोई उपदेश देते हैं तो वह उपदेश बालक के लिए लाभकारी सिद्ध होता है। प्रेम सम्बन्ध के अभाव में बालक के मन में उपदेश प्रतिनिर्देश की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में जितनी ही दृढ़ता से हम उपदेश देते है, बालक के मन में उतनी ही अधिक प्रबल विरुद्ध आचरण अथवा विचार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यही कारण है कि बालकों को अधिक उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं हानिकारक है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रत्येक माता पिता और शिक्षक को जानना आवश्यक है। जब हम देखते हैं कि हमारी शिक्षा का बालक के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है तो हमें बालक को

दोष न देकर अपने आपको ही दोष देना चाहिए। जब हम उतावले होकर बरबस बालक को अपनी बातों से प्रभावित करना चाहते है तो उनके मन में प्रतिनिर्देश का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके परिणाम स्वरूप वह विरुद्ध आचरण करता है और जब हम उसे इस प्रकार के आचरण के लिए दण्ड देते हैं तो उसके व्यक्तित्व की भारी क्षति करते हैं। उसके मन में सभी प्रकार के उपदेशकों के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण बालक उद्दण्ड और हठीला अथवा आलसी और निकम्मा हो जाता है।

उपदेश की अपेक्षा निर्देश कितना अधिक प्रभावशाली होता है इस सत्य को संसार का प्रत्येक महान् पुरुष जानता है। अपनी शिक्षा में वह उपदेश की अपेक्षा निर्देश से ही अधिक काम लेता है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के बालकों के प्रति निम्नलिखित व्यवहार से यह स्पष्ट होता है—

एक बार पाँच-सात बालक, जिनमें काशी के एक महात्मा श्रीदुर्गाचरण चटर्जी भी थे, रामकृष्ण परमहंसजी के पास गए। बालक जानते थे कि परमहंसजी बहुत अच्छा उपदेश देते हैं, उस उपदेश को सुनने के लिए उनके पास बड़े बूढ़े लोग जाते हैं। बालकों के अगुआ ने परमहंसजी से प्रार्थना की महाराज हमें उपदेश दीजिए। सभी बालक दस-बारह वर्ष के थे। परमहंसजी सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उन्होंने बालकों के अगुआ से बड़े सरलभाव से कहा—"उपदेश अच्छा कि सन्देश? कुछ सन्देश लो।"

यह सुनकर सब बालकगण प्रसन्न हो गए। फिर रामकृष्णजी ने बालकों के अगुआ से कहा—"जाओ उस छींके पर हँड़िया रखी है, उसे ले आओ।"

बालक गया और छींके से हँड़िया ले आया। परमहंसजी ने उसमें से सन्देश निकालकर बालकों को बाँट दिये। जब बालक सन्देश खाने लगे ;तो परमहंसजी ने पूछा—"सन्देश मीठा होता है कि उपदेश ?"

यह घटना आज से पैंसठ वर्ष पूर्व हुई थी।* पर यह महात्मा दुर्गाचरण चटर्जी के हृदय पर वैसी ही अङ्कित थी जैसे कि वह आज ही घटित हुई हो। परमहंसजी ने बालकों को कोई उपदेश नहीं दिया, तिसपर भी उनके स्वभाव में मौलिक परिवर्तन कर दिया। उन्होंने बालकों के हृदय में प्रेम के द्वारा सद्भावना जाग्रित की। उन्हें प्रेम करना सिखाया, यही शिक्षा मनुष्य के चरित्र का मौलिक सुधार करती है। प्रेम-शिक्षा ही सच्ची धर्म-शिक्षा है। सबसे बड़ा धर्मशिक्षक प्राणि-मात्र को प्रेम करना सिखाता है। श्रीराम कृष्ण परमहंस ने बालकों को अपनी सद्भावना तथा निर्देश के द्वारा यही सिखाया।

निर्देश और शिक्षा

रामकृष्ण परमहस की जीवनी से उल्लिखित उपर्युक्त घटना निर्देश के प्रभाव की शिक्षा के कार्य में महत्ता स्पष्ट करती है। बालक की शिक्षा में पद पद पर शुभ निर्देश की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार शुभ निर्देशों के द्वारा रोगी को निरोग बनाया जा सकता है इसी तरह उद्दण्ड और दुराचारी बालक को शुभ निर्देश के द्वारा सुशील और सदाचारी बनाया जा सकता है। शुभ निदशों के द्वारा बालक की स्मृति सुधारी

---

*यह कथा श्री दुर्गाचरणजी ने हिन्दू स्कूल में रामकृष्ण परमहंसजी का १९३४ में चित्र उद्घाटन करते समय कही थी।

जा सकती हैं, उसकी ध्यान की एकाग्रता बढ़ाई जा सकती है, उसकी प्रतिभा जागृत की जा सकती है। जिस बालक से शिक्षक बड़ी बड़ी आशाएँ रखता है वह बालक शिक्षक की सद्भावना के अनुरूप परिणत हो जाता है। संसार में वही व्यक्ति वह प्रतिभा दिखा सकता है जिसे अपने आस-पास के लोगों से और विशेषकर अपने से बड़ों से शुभ निर्देश मिलते रहते हैं। शिष्य की प्रतिभा की वृद्धि शिक्षक के शुभ निर्देशों से ही होती है। अतएव बालक के छोटे-छोटे कामों में रुचि दिखाना तथा उसके आत्म-प्रकाशन में उत्साह बढ़ाना शिक्षक का परम कर्तव्य है। इस प्रकार के शिक्षक द्वारा प्राप्त शुभ-निर्देश बालक में आत्म-विश्वास की वृद्धि करते हैं और उसके व्यक्तित्व को सुयोग्य बनाते हैं।

नवाँ प्रकरण

आदतों का सुधार

प्रत्येक व्यक्ति को जिसके ऊपर बालक के लालन-पालन अथवा शिक्षा का भार रहता है बालक की अनेक बुरी आदतों के छुड़ाने की समस्या का सामना करना पड़ता है। कुछ आदतें स्वास्थ्य की दृष्टि से बालक के लिए हानिकर होती हैं और कुछ सामाजिक दृष्टि से हानिकारक होती हैं। अर्थात् कुछ ऐसी आदतें होती हैं जिनके प्रबल हो जाने से बालक गन्दा, अनियमित और अपने स्वास्थ्य को बिगाड़नेवाला बन जाता है और वह कुछ आदतों के कारण वह दूसरों को दुखी बनानेवाला बन जाता है। पहले प्रकार की आदतों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

अँगूठा पीने की आदत, मुँह से नख काटने की आदत, देर से टट्टी जाने की आदत, बिस्तर में पिशाब करने की आदत, स्नान न करने की आदत, जननेन्द्रिय स्पर्श करने की आदत, आग से खेलने की आदत और बीड़ी पीने की आदत।

दूसरे प्रकार की आदतों में से (जिनका प्रभाव समाज पर पड़ता है) निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

चुगली करना, झूठ बोलना, चोरी करना, निर्बलों को सताना, आग लगाना, स्कूल की दीवाल पर गालियाँ लिखना,

स्कूल का सामान बरबाद करना, स्कूल से भाग जाना और पुस्तकें खोना।

बुरी आदतों का कारण और उपचार

साधारण मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि प्रत्येक प्रकार की आदत का कारण हमारा अभ्यास है। व्यक्ति के जीवन में भली व बुरी आदतें अभ्यास के कारण बनती हैं। जिस बालक को जिस प्रकार के काम करने का अभ्यास कराया जाता है उसकी उसी प्रकार के काम करने की आदत बन जाती है। फिर उस प्रकार का काम करना उसके स्वभाव का अङ्ग बन जाता है। भली आदतें शिक्षक को जान-बूझकर बालक के जीवन में डालनी पड़ती है। इसके लिए उसे पुरस्कार और दण्ड से भी काम लेना पड़ता है। शिक्षक अथवा माता-पिता की असावधानी से ही बालक के जीवन में बुरी आदतें पड़ जाती हैं। जिस बालक को अपने जीवन में भली आदतें डालने का अभ्यास नहीं कराया जाता, उसके जीवन में अपने आप बुरी आदतें पड़ जाती हैं। ये आदतें विपरीत अभ्यास के द्वारा छुड़ाई जा सकती हैं। बुरी आदतों के छुड़ाने के लिए कभी दण्ड का भी प्रयोग करना पड़ता है।

शिक्षक साधारणतः बालक की बुरी आदतें छुड़ाने के लिए दण्ड का प्रयोग करते हैं। इस तरह वे बालक को भय के द्वारा सुशील बना देते हैं। नवीन मनोविज्ञान का कथन है कि बालक के ऊपर भली आदतें डालने के लिए बल का प्रयोग करना अनुचित है। जीवन-विकास के साथ-साथ बालक में भली आदतें अपने-आप पड़ जाती हैं। उसी बालक के जीवन में बुरी आदतें पड़ती हैं जिसके साथ शैशव-काल में बुरी तरह बर्ताव किया

ज्ञाता है। जब हम इन आदतों को वल-प्रयोग अर्थात् दण्ड द्वारा हटाने की चेष्टा करते हैं तो हम उनकी जटिलता और भी बढ़ा देते हैं। सम्भव है कि इस तरह हम बालक की किसी बुरी आदत को छुड़ाने में समर्थ हों, किन्तु बल-प्रयोग से इस आदत को छुड़ाने की हमारी चेष्टा से उसके जीवन की समस्या उलझ जाती है। वह बुरी आदतें को पकड़ लेता है। यदि हम बालक की सभी अवांछनीय आदतों को भय द्वारा छुड़ाने में समर्थ हों तो हम बालक के व्यक्तित्व को ही नष्ट कर देंगे। ऐसा वालक ऊपर से सुशील, सदाचारी और नम्र होगा किन्तु भीतर से वह ईर्ष्यालु, दुराचारी और क्रूर होगा। वह यदि अपना बाल-जीवन ठीक से बिता सका तो अपनी प्रौढ़ावस्था में विषयी, अपराधी, कायर, रोगी अथवा विक्षिप्त बन जायगा। नवीन मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का कथन है कि यदि हम बालक को सुयोग्य व्यक्ति बनाना चाहते हैं तो हमें उसके हृदय में भय का नहीं, वरन् प्रेम का सञ्चार करना चाहिए। प्रेम द्वारा ही उसकी बुरी आदतें उसके व्यक्तित्व को बिना हानि पहुँचाये हटाई जा सकती हैं। प्रेम और सहानुभूति के द्वारा बालक को उसकी बुरी आदतों से मुक्त करने के सम्बन्ध में बहुत से लोगों ने प्रयोग किये है। साधारण शिक्षकों की यह बुद्धि में नहीं आता कि बालक को प्रेम के द्वारा कैसे सुशील वनाया जा सकता है और कैसे उसे बुरी आदतों से मुक्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो प्रयोग होमरलेन महाशय ने अपराधी बालकों के सुधारने के लिये किये हैं, और जो प्रयोग ए० एस० नील महाशय ने अपने सोमर्स हिल स्कूल में किये हैं, उल्लेनीय हैं।

ऊपर कही गई विभिन्न आदतों के विषय में जो उनके

विचार हैं, शिक्षा में नई दृष्टि के उत्सुकों के लिए जानना आवश्यक है। हम यहाँ कुछ आदतों को लेकर यह दर्शाने की चेष्टा करेंगे कि वे कहाँ तक जटिल हो सकती हैं और कैसे हम उन्हें प्रेम-व्यवहार के द्वारा छुड़ा सकते हैं।

अँगूठा पीना

अँगूठा पीने की आदत बहुत से बालकों में होती है। इसे साधारणतः माता-पिता गन्दी-आदत मानते हैं। वे सोचते हैं कि ऐसी आदत अनायास ही बालक के मन में पड़ जाती है। नवीन मनोविज्ञान की दृष्टि दूसरी ही है। नवीन मनोविज्ञान की खोंजो से पता चला है कि बालक की अंगूठा चूसने की आदत का मूल कारण उसकी माँ के स्तन पीने की इच्छा है। जिस बालक को उसकी इच्छा भर माँ का दूध पीने को नहीं मिलता, अथवा जिसे माँ का सम्पूर्ण प्रेम नहीं मिलता उसे यह आदत लग जाती है। लेखक ने कई ऐसे बालकों को देखा जिन्हें माँ का दूध डेढ़ साल से कम ही पीने को मिला। जब एक बच्चे और दूसरे बच्चे के होने में डेढ़ साल या इससे कम का अन्तर रहता है तो बालक की माँ के स्तन से दूध पीने की इच्छा की तृप्ति नहीं होती। इस कमी को बालक अपना अंगूठा पीकर ही करता है। यदि बालक के अंगूठा पीने में कोई बाधा न डाली जाय तो कुछ काल के पश्चात् वह आदत अपने आप ही छूट जायगी। किन्तु यहाँ हमें धैर्य से काम लेना चाहिए। जिस बालक की यह इच्छा जितनी ही प्रबल है उतनी देर तक ही वह अँगूठा पीता है*। पीछे वह

* लेखक के एक मित्र के तीन बच्चे, जिनकी उम्र क्रमशः बारह साल, साढ़े दस साल और नव साल की है, हाथ का अंगूठा पीते हैं।

अपने आप ही अंगूठा पीना छोड़ देता है। यदि बरबश बालक से अंगूठा पीना छुड़ाया जाय, तो वह कोई दूसरी उससे भी अधिक बुरी आदत को पकड़ लेगा। सम्भव है ऐसी स्थिति में वह किशोरावस्था प्राप्त करने पर अप्राकृतिक रूप से अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की चेष्टा करे। ऐसे बालकों के जीवन में ही हस्तमैथुन की आदत पड़ जाती है। शैशवावस्था की दबाई गई निर्दोष आदत इस तरह बालक की किशोरावस्था में एक बड़ी घृणित आदत का कारण बन जाती है।

पाठक नवीन मनोविज्ञान के इस कथन को शायद अनर्गल अलाप मात्र समझें, किन्तु उसका यह कथन वैज्ञानिक सत्य से भरा है। मनोविश्लेषण की खोजों से पता चला है कि जननेन्द्रियों के अतिरिक्त शरीर में दूसरे भी अङ्ग हैं जिनके उत्तेजित होने पर कामवासना की तृप्ति होती है। उनमें तीन प्रधान हैं ओठ, ढेपुनी (स्तन का अगला ठोर) और उपस्थ। जब शिशु माँ के स्तन से दूध पीता है तो एक ओर माँ की उसके ढेपुनी के उत्तेजित होने से उसके कामवासना की तृप्ति होती और दूसरी ओर बालक के ओठों के उत्तेजित होने से उसकी अचेतन कामवासना की तृप्ति होती है।* जिस बालक

इन्हीं मित्र के एक बालक के विषय में यह कहा जाता है कि मैट्रिक परीक्षा देने तक वह अंगूठा पीता था। मेरे मित्र स्वयं मनोवैज्ञानिक हैं और अपने बच्चों के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं। उन्होंने अपने बालकों की इस आदत को छुड़ाने के लिए कोई कठोरता का व्यवहार नहीं किया। नवीन मनोविज्ञान की भी ऐसी स्थिति में यही सलाह है।

* मनोविज्ञान की दृष्टि से चुम्बन करना, छाती से छाती मिलाना अचेतन काम इच्छा को तृप्त करते हैं।

की यह तृप्ति शैशवकाल में पर्याप्त नहीं होती उसकी काम-वासना किशोरावस्था में अत्यधिक प्रबल हो जाती है। अतएव वह अपने विवेक के प्रतिकूल भी बहुत सी गुप्त काम-क्रीड़ा में लग जाता है।

मुख से नख काटना

मुख से नख काटने की आदत भी अतृप्त कामेच्छा की सूचक है। यह अंगूठे पीने की आदत का रूपान्तर सामान है। यदि समझाने-बुझाने से बालक इस आदत को छोड़ दे तो अच्छा है। दण्ड के द्वारा इसे छुड़ाना वैसा ही हानिकारक है जैसा कि उपर्युक्त आदत का छुड़ाना। कभी कभी बालक देखा-देखी नाखून काटने लगता है। ऐसी स्थिति में वह थोड़ा भी समझाने-बुझाने पर इस आदत को छोड़ देता है। किन्तु जब मानसिक जटिलता इसका कारण होता है तो कहना सुनना निष्फल जाता है।

टट्टी रोकना

कितने बच्चों को टट्टी का समय टालने की आदत रहती है। इसका अर्थ यह है कि उनका अचेतन मन मल का त्याग नहीं करना चाहता। वह मल को एक कीमती वस्तु समझता है। एक डेढ़ साल का बालक जब टट्टी जाता है तो वह उससे खेलना चाहता है। उसे अपनी टट्टी छूना अच्छा लगता है। जब माताएँ बालक के इस कार्य को भय दिखाकर छुड़ाती हैं तो वह मल-त्याग ही नहीं करना चाहता। कितने ही बालक इसके लिए पीटे जाते हैं। जिन बालकों को बरबश इस तरह पैखाने में भेजा जाता है

वे प्रौढ़ होने पर कृपण व्यक्ति बन जाते हैं। पैसा हाथ का मैल है। जिस तरह शिशु-काल में बालक शरीर के मल को नहीं त्याग करना चाहता, इसी तरह कृपण मनुष्य प्रौढ़ होने पर "हाथ का मैल" अर्थात् पैसे का त्याग नहीं करना चाहता है। उसकी संग्रह बुद्धि अत्यधिक बढ़ जाती है और खर्च करने की बुद्धि तथा दानशीलता का उसमें अभाव हो जाता है।

बालक के व्यक्तित्व को बिना हानि पहुँचाये इस आदत को उसे रचनात्मक कार्य में लगाकर छुड़ाई जा सकती है। रचनात्मक कार्य में लगा हुआ बालक प्रकृति की माँग को नहीं रोकता। वह प्रसन्न चित्त रहता है। यदि जीवन भर बालक किसी रचनात्मक कार्य में लगा रहे तो न उसमें कृपणता की आदत पड़े और न वह उदासीनता से जीवन-यापन करे।

विस्तर में पेशाब करना

विस्तर में पेशाव करने की आदत प्रायः अनेकों बच्चों को होती है। कोई कोई बालक छः सात वर्ष की अवस्था तक बिछौने में नींद में पेशाब कर देते हैं। डाँटने-डपटने पर भी यह आदत नहीं छूटती। नवीन मनोविज्ञान के कथनानुसार इस आदत का कारण बालक को अपनी जननेन्द्रिय छूते समय डाँट देना है। इस आदत से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं, बालक स्वयं इस आदत से कष्ट पाता है। अतः जब उसका अचेतन मन उससे तङ्ग हो जाता है तो वह आप ही इसे छोड़ देता है। इसके छुड़ाने के लिए साधारण उपायों को काम में लाना अनुचित नहीं; जैसे कि बालक को पेशाब कराकर सुलाया जाय, रात में उसे उठाकर भी एक बार पेशाब करा दिया जाय। किन्तु मारना-पीटना

बालक के प्रति अन्याय करना है। ऐसा करने से यह आदत बालक के किसी जटिल रोग का कारण बन जाती है।

कपड़ा बिगाड़ना

धोती में टट्टी करने की आदत जटिल बालक को होती है। नील के स्कूल का एक उदाहरण इस विषय में उल्लेखनीय है—

एक समय नील के स्कूल में एक आठ वर्ष का ऐसा बालक भेजा गया जो दिन में एक-दो वार टट्टी से पैंट खराब कर देता था। उसकी माँ ने उसे बहुत पीटा। किन्तु उसकी यह आदत वह न छुड़ा सकी। एक दिन क्रोध में आकर उसने उस बालक का मैला उसके मुँह पर लगा दिया। तिस पर भी बालक की यह आदत न गई। अन्त में परेशान होकर बालक की माँ उसे नील महाशय के पास लाई और उसके स्कूल में भरती कर दिया।

नील महाशय ने उसके साथ बड़े प्रेम और सहानुभूति से काम लिया। उसका मनोविश्लेषण करके यह जानने की चेष्टा की कि इसका कारण क्या है? नील को मनोविश्लेषण से ज्ञात हुआ कि इस बालक के ऊपर माता का उतना प्रेम नहीं है जितना कि उसके दूसरे भाई और बहनों पर है। प्रत्येक बालक का चेतन मन अपने सम्बन्धियों के प्रेम का भूखा रहता है। जब उसे यह प्रेम नहीं मिलता तो वह उनकी घृणा का पात्र बनकर ही अपने आप को सन्तुष्ट करता है। नील महाशय का कथन है और यह होमरलेन की एक बड़े महत्व की खोज है कि घृणा प्रेम का ही विकृत रूप है। जब बालक किसी व्यक्ति का प्रेम प्राप्त करने का इच्छुक रहता है और वह प्राप्त

करने में असमर्थ रहता है तो वह उसकी घृणा का इच्छुक बन जाता है। जब बालक अपने स्वजनों से प्रशंसित होने की इच्छा को तृप्त नहीं कर पाता तो वह ऐसे काम करने लगता है कि वह उनके द्वारा पीटा जाय। पीटे जाने की मनोवृत्ति को मनो विश्लेषक विज्ञानियों ने मेकोइस्टिक प्रवृत्ति कहा है। अचेतन-मन जब अपने प्रेमियों को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं होता तो वह उन्हें रुष्ट करने से सन्तोष पाता है।

इस तरह से पीटे जाने से बालक की मानसिक जटिलता कम नहीं होती, वरन् और बढ़ती जाती है। जटिल बालक के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करने से उसकी घृणा की मनो-वृत्ति प्रेम में परिणत हो जाती है। बालक फिर उन कामों को करने की चेष्टा करता है जिससे कि वह अपने से बड़े लोगों का स्नेहास्पद बनता है। उसकी बुरी आदतें तब अपने आपही छूट जाती हैं। उक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर नील ने इस बालक की सेवा करना स्वीकार किया। किन्तु उसके छात्रावास की नर्स को महीनों इस बालक के कपड़ों को धोना पड़ा, तब उसकी गन्दी आदत छूटी। जब एक बार बालक का मन घृणा से कलुषित हो जाता है, तो उसे निर्मल बनाने में बड़ी कठिनाई होती है और काफी समय खर्च करना पड़ता है।

स्नान न करना

स्नान नहीं करने की आदत भारत में कम पाई जाती है। जिस घर के प्रौढ़ व्यक्ति प्रति दिन स्नान करते हैं उस घर के बालक स्वतः ही होड़ा-होड़ी के साथ स्नान करने लग जाते हैं। उन्हें इसके लिए बाध्य नहीं करना पड़ता। लेखक के तीन बच्चे जाड़े के दिन में रोकने पर भी आग्रहपूर्वक नहाते थे।

जब लेखक ने किसी कारणवश नहाने में शिथिलता दिखाई तो बालक भी नहाने के प्रति उदासीन हो गए।

बालकों को बल पूर्वक नहलाना अधिक लाभप्रद नहीं। नील महाशय से एक बार जब एक उनके व्याख्यान श्रोता ने पूछा कि हम बालक में स्नान करने की आदत कैसे डालें ता उन्होंने यही उत्तर दिया कि इस आदत के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है? जब उसने कहा कि इस तरह तो लड़का गन्दा रहकर बीमार पड़ जायगा, तो उन्होंने यह जवाब दिया कि—"नहाने और दीर्घायु में कोई सम्बन्ध नहीं। मेरे एक परिचित व्यक्ति हाल ही में नब्बे वर्ष की अवस्था में मरे। वे अन्त काल तक पूर्ण स्वस्थ थे और किसी न किसी उपयोगी काम में लगे रहते थे, किन्तु बहुत कम नहाते थे।"

कितने लोगों को अत्यधिक सफाई की झक समाई रहती है। यह उनके मन में स्थित गन्दगी की प्रतिक्रिया मात्र है। दूसरों को साफ रखने की इच्छा और सफाई के प्रचार में असाधारण उत्साह दिखाना अपनी मानसिक गन्दगी को छिपाने की चेष्टा मात्र है। वे ही लोग कपड़ों की अत्यधिक सफाई की आवश्यकता समझते हैं जो ईर्षालु और विषय-लोलुप होते हैं, तथा जिनकी विषय-लोलुपता दमन की गई होती है। सफाई का आवरण अपने ऊपर डालकर वे उनकी हृदय की गन्दगी को अपनी दृष्टि से ओझल करते हैं। बालकों का मन सरल होता है। उनका आन्तरिक और बाहरी मन एक सा रहता है। जैसा वे हृदय से चाहते हैं वैसा उनका व्यवहार होता है। अतएव उन्हें अपने शरीर के मैल में लिपट जाने की अथवा कपड़ों के गन्दे हो जाने की कुछ परवाह नहीं रहती।

उनके जीवन में सच्ची दैविकता देखी जाती है। यदि हमारे जीवन में बालक जैसी ही सरलता और दैविकता हो तो बालक हमारा अनुकरण अपने-आपही करने लगें। बालक को सफाई सिखाने के लिए उसके वातावरण को स्वच्छ बनाना मात्र ही पर्याप्त है। संसार के नब्बे प्रतिशत रोग मानसिक गन्दगी के कारण ही उत्पन्न होते हैं। विरला ही रोग केवल शारीरिक गन्दगी के कारण उत्पन्न होता है।

बालक में नहाने की आदत डालने के लिए निर्देश और अनुकरण की प्रवृत्ति से काम लेना पर्याप्त है।

झूठ बोलना

प्रत्येक बालक में झूठ बोलने की प्रवृति होती है। किन्तु बालक की प्रत्येक झूठ को हमें अनैतिक न मानना चाहिये। कितनी ही वार बालक वास्तविकता और कल्पना में भेद न कर सकने के कारण झूठ बोलता है। उसकी कल्पना प्रबल होती है, इसलिए बालक जिस वस्तु की कल्पना करता है वह उस वस्तु को अपने समक्ष प्रत्यक्ष देखने लगता है। ऐसी झूठ झूठ नहीं है।

बालक की झूठ का दूसरा कारण उसकी आत्म-प्रकाशन की दलित भावना है। बालक अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। वह सच बोल कर जब अपनी ओर दूसरों का ध्यान नहीं आकर्षित कर पाता तो गप्प लड़ाकर ध्यान आकर्षित करता है। इस प्रकार बालकों में झूठ का प्रचार बड़ी शीघ्रता से होता है।

कभी कभी बालक धोखा देने के लिए भी झूठ बोलता है। किन्तु इस प्रकार की झूठ के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

उसकी झूठ का नैतिक महत्व उतना अधिक नहीं, जितना कि प्रौढ़ लोगों की झूठ का होता है। प्रौढ़ लोग पहले से ही बड़ी बड़ी योजनायें बनाकर झूठ का प्रचार करते हैं; बालक इस प्रकार की योजनायें नहीं बनाता। प्रौढ़ लोगों की कितनी ही सत्य झूठ होती है, अर्थात् वे सत्य को भी इस तरह से कहते हैं जिससे कि उनके आशय से अन्य आशय सुनने वाला ग्रहण करे। हमारे कलुषित मन होने कारण ही हम बालक की झूठ को अधिक महत्व देते हैं।

बालक कभी कभी पिटने से बचने के लिए झूठ बोलता है। जो बालक वारबार पीटा जाता है, उसको झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। जब बालक से कोई काम बिगड़ जाता है। तो वह अपनी भूल स्वीकार न कर झूठ बोलता है। वह जानता है कि भूल के लिए वह पीटा जायगा, यदि झूठ बोल देगा तो सम्भव है कि वह पिटने से बच जाय। झूठ पकड़ जाने पर पिटने के अतिरिक्त दूसरा कुछ होता नहीं है। जैसे दो तमाचे खाये वैसे तीन खा लेगें, पर झूठ बोलकर बच भी जा सकते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि अत्यधिक मार-पीट से काम लेने से बालक में नैतिक सुधार न होकर बिगाड़ ही होता है।

कुछ बालकों को झूठ बोलने की बीमारी होती है। इस प्रकार का झूठ किसी विशेष प्रकार के स्वार्थ-साधन के हेतु नहीं होता, वरन् किसी व्यक्ति को दुःख पहुँचाना होता है। जिस समय किसी झूठ व्यवहार में साध्य और साधन का सामंजस्य नहीं देखा जाता तो इस प्रकार का झूठ असाधारण झूठ या रोग मूलक झूठ कहा जाता है। इसका

स्वरूप जटिल जान पड़ता है देखने में लक्ष्य-विहीन मालूम होता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता ऐसा झूठ कई बार दोहराया जाता है। कभी कभी महीनों और सालों तक एक सा ही झूठ व्यवहार जारी रहता है।

ऐसा झूठ बोलने वाला बालक बुद्धि में दूसरे बालक से न्यून नहीं दिखाई देता। उसकी कल्पना-शक्ति विशेष प्रकार से बढ़ी-चढ़ी रहती है और भाषा के प्रयोग में भी वह प्रवीण होता है। किन्तु यदि इस प्रकार के बालक की स्मरण-शक्ति-मापक परीक्षा ली जाय तो उससे अवश्य यह पता चलेगा कि वह साधारण बालकों की अपेक्षा अधिक भूलता है और भूली हुई बातों की जगह कल्पना द्वारा नई बातों का निर्माण कर लेता है। ऐसे बालक को आप एक साधारण तस्वीर दिखाइये और उसका वर्णन तस्वीर के बिना देखे करने दीजिए। आप साधारण बालक में और ऐसे बालक के वर्णन में भारी विषमता पावेंगे। हमारे देश में इस प्रकार की परीक्षाएँ अभी तक नहीं की जा रही हैं, पर यूरोप के प्रयोगों से पता चलता है कि असाधारण झूठ बोलनेवाले बालकों की स्मरण शक्ति दूसरे बालकों की अपेक्षा कम होती है और कल्पना शक्ति बढ़ी रहती है।

जब हम ऐसे बालकों के वंश का अध्ययन करते हैं, तो उनके वंश में ऐसे ही कुछ और भी लोग वैसे ही पाये जाते हैं। देखा गया है कि उनके कुछ घनिष्ठ सम्बन्धी या तो विक्षिप्त हाते हैं या उन्माद से ही पीड़ित होते हैं।

इन बालकों के वातावरण के अध्ययन से पता चलता है कि उनका गृह जीवन उद्वेग पूर्ण होता है, कहीं कहीं दुराचार पाया जाता है। बालक के पास के सम्बन्धियों के आचार दूषित पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ, माता-पिता, भाई-बहिन आदि का

व्यभिचारी होना। साधारणतः देखा जाता है कि इस प्रकार के बालक के परिवार में सत्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। वंशानुक्रम और वातावरण दूषित रहने के अतिरिक्त बालक के वैयक्तिक जीवन में भी ऐसी समस्याएं उपस्थित होती हैं जिसके कारण बालक को झूठ बोलने का रोग पकड़ लेता है। बालक को किसी प्रकार का भारी मानसिक क्लेश होता है और वह उस क्लेश को भूल जाता है। जिस समय बालक की कोई विशेष संवेग पूर्ण दुखमय घटना मन के अंतस्तल में स्थान पा लेती है, तो वह मानसिक रोग के रूप में अनेक प्रकार से प्रकाशित होने लगती है। बालक का पीटा जाना, सौतेली माँ का व्यवहार आदि बातें जटिल मानसिक समस्याएँ उत्पन्न करती हैं। ऐसा बालक एकान्त सेवी होता है, वह मन में अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ लाता रहता है। चोरी करना आवारा गर्दी करना, घर छोड़ के भागना आदि बुरी आदतें ऐसे बालकों में पाई जाती हैं।

सिरिलबर्ट महाशय का कहना है कि ये बुरी आदतें लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक पाई जाती हैं। कभी कभी वे अपने-समीप सम्बन्धियों के ऊपर दोषारोपण करती हैं। कभी कभी गुमनाम पत्र सम्बन्धियों के पास भेजती हैं। मानसिक ग्रन्थि कभी कभी एक ही बार झूठ बोलने में प्रकाशित नहीं होती, वरन् पूरे झूठ व्यवहार में वह परिणत हो जाती है। सिरिलबर्ट महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है।

'मेरीनेलर' 'नेलर' महाशय की लड़की थी। उसकी उमर ९ वर्ष ७ माह की थी। यह लड़की अपने पिता को गन्दे पत्र लिखा करती थी। उसका पिता उन चिट्ठियों

के लिखने वाले का पता नहीं चला पाता था। कभी कभी वही लड़की सुन्दर पत्र भी पिता को लिखा करती थी। गाली देनेवाली चिट्ठियाँ गंदी लिपि में लिखी रहती थीं। यह लिपि इस लड़की की साधारण लिखने की लिपि से पृथक् थी। कोई भी व्यक्ति, स्वयं अध्यापिका भी, यह बात नहीं जानती थीं कि 'मेरी' दो प्रकार की लिपि लिख सकती है। इसलिए जब उन पत्रों को अध्यापिका को दिखाया गया तो उसने साफ़ कहा कि ये पत्र मेरी के लिखे नहीं हैं। यह लड़की गन्दे पत्र अपने पिता को ही नहीं भेजती थी, वरन् अपने पिता को बदनाम करने के लिए दूसरों के पास भी—पिता को जुर्म करने वाला, अन्यायी कह कर भेजती थी, यहाँ तक कि एक बार उसका पिता बड़े झंझट में फँस गया। उस लड़की ने पिता के दो तीन मित्रों के पास पत्र भेजे कि नेलर महाशय तुम्हारी पत्नी के साथ व्यभिचार करते हैं।

अपने पर इस प्रकार का संकट देख पिता ने खुफिया पुलीस से प्रार्थना की कि पत्र-लेखक का पता लगावे। बहुत छानवीन से पता चला कि उसकी लड़की के ही लिखे ये पत्र हैं। फिर उक्त पिता ने डाक्टरों की सहायता ली। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि बालिका एक भारी मानसिक पीड़ा से पीड़ित है। उसका व्यक्त मन इस पीड़ा को भूलना चाहता है, पर उसके अव्यक्त मन में यह व्यथा भरी है। बालिका के पिता ने अपनी पुरानी स्त्रीको जो बालिका की माँ थी व्यभिचारिणी समझकर तलाक दे दिया था और दूसरी शादी कर ली थी। इस घटना ने बालिका के हृदय पर भारी आघात किया और अब उसकी अपने पिता के प्रति कुछ भी श्रद्धा नहीं रह गयी थी। उसकी अन्तरात्मा कहती थी कि मेरी माँ निर्दोषी है पिता

ने अपने स्वार्थ के लिए माँ को छोड़ दिया है। उसका आन्तरिक मन सौतेली माँ और पिता की दुश्मन था, पर उसका :बाहरी मन इस दुखद घटना को स्मरण नहीं करना चाहता था। अतएव एक तरफ तो वह अपने दुःखों को भूल कर पिता के साथ सद् व्यवहार करती थी और दूसरी ओर उसका मन पिता के हृदय पर आघात पहुँचाने का इच्छुक था। वास्तव में इस समय दो व्यक्ति एक ही शरीर में स्थान पा लिये थे। उसको स्वयं ही अपनी दूसरी-अवस्था का कुछ भी स्मरण नहीं रहता था। जब उससे गंदी चिट्ठियों के बारे में पूछा जाता था, तो वह रोने लगती थी। उसका साधारण व्यक्तित्व उसकी असाधारण अवस्था के कामों से पूर्णतः अपरिचित था।

सिरिलबर्ट के अध्ययन से पता चला कि इस लड़की के वंशानुक्रम और वातावरण दोनों ही दूषित थे, अतएव उसके जीवन की दुखद घटनाएँ उसके अनुचित व्यवहार का तुरन्त कारण बन गयीं। सिरिलबर्ट ने बालक की दुखद स्मृति को जगाया। जब उसके दोनों व्यक्तित्व में सामञ्जस्य स्थापित हो गया तो बालक का झूठ बोलना भी छूट गया। इस सामंजस्य के स्थापन के समय में अनेक प्रकार की घटनाएँ हुईं। एक दिन वह बालिका कह उठी कि मुझे नाना के घर भेज दो, नहीं तो मैं अपनी सौतेली माँ के नौ महीने के बच्चे को मार डालूँगी। वह कभी कह उठती थी कि मुझे मेरा बाप मार डालेगा, मुझे यहाँ से हटा दो। धीरे धीरे कई दिनों के प्रयत्न के पश्चात् बालक के व्यक्तित्व के विच्छेद का अन्त हो गया। व्यक्तित्व के विच्छेद के अन्त होने पर, एक ओर बालिका के झूठ बोलने तथा झूठ व्यवहार का अन्त हो गया और दूसरी ओर उसकी सुशीलता भी जाती रही। अब उस बालिका के व्यवहार में

कुछ चिड़चिड़ापन आ गया। पर इस प्रकार का चिड़चिड़ापन आना स्वाभाविक था।

चुगुली करने की आदत

चुगली करने की आदत प्रत्येक बालक में पाई जाती है। प्रत्येक बालक अपने आपको दूसरे से ऊँचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसकी यही इच्छा उसे उच्च बनाती है। जब इस इच्छा की साधारण तृप्ति में रुकावट पड़ती है तो वह अपनी तृप्ति का विकृत मार्ग ढूँढ़ लेती है। किसी भी सुयोग्य बालक में दूसरे बालकों की चुगली करने की आदत नहीं होती। जब तक बालक समाज में सम्मानित होता रहता है उसमें चुगली की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, जब किसी प्रकार उसके सम्मान में क्षति पहुँचती है तो वह चुगलखोर बन जाता है। दूसरे बालकों की चुगली करके बालक अपने आपको दूसरों से ऊँचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। अपने आपको मनुष्य दो प्रकार से सुयोग्य सिद्ध कर सकता है—एक अपनी योग्यताएँ बढ़ाकर और दूसरे योग्य माने जाने लोगों की आलोचना करके। स्वस्थ मन का व्यक्ति पहले प्रकार के मार्ग का अनुसरण करके अपने आपको सुयोग्य सिद्ध करता है, और अस्वस्थ मन का व्यक्ति दूसरे मार्ग का अनुसरण करता है।

चुगली करनेवाले बालक का मन दुःखी होता है। दुःखी मनुष्य दूसरे को भी दुःखी बनाने की चेष्टा करता है। वह दूसरों को नीचे गिराने और कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करता है। हम इस आदत को बालक को मारपीट कर नहीं छुड़ा सकते। इससे यह आदत और भी जटिल हो जाती है। इसे छुड़ाने का सब से सुन्दर मार्ग बालक को सुखी बनाना है। बालक के

सुख की वृद्धि रचनात्मक कार्यों से होती है। जो बालक रचनात्मक कार्यों में लगा रहता है उसे नित्य नये आनन्द की अनुभूति होती है। ऐसे बालक को दूसरों की नुक्ताचीनी करने अथवा चुगली करने की फुरसत ही नहीं रहती।

चुगलखोर बालक के मन में आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि रहती है। पीटा जानेवाला अथवा तिरस्कृत बालक चुगलखोर हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि बालक का आत्म-सम्मान बढ़ाकर हम उसकी चुगली करने की आदत का अन्त कर सकते हैं। आत्महीनता की ग्रन्थि का अन्त रचनात्मक कार्यों से होता है। अतएव बालक को हमें सदा ऐसे ही कामों में लगाये रखना चाहिये। इसके लिये उसे प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित करते रहना आवश्यक है।

चोरी करने की आदत

बालकों में चोरी की आदत एक साधारण सी बात है। जिस वस्तु को बालक चाहता और वह उसे नहीं मिलती तो वह चोरी करके उसे प्राप्त कर लेता है। खाने की वस्तु को चुरा लेने से विरला ही बालक अपने आपको रोक सकता है। कोई कोई बालक किसी वस्तु को उसकी उपयोगिता के लिए नहीं चुराते, वरन् चोरी करने के मजा के लिए चुराते हैं। जो बालक लोभवश चोरी करते हैं उनकी चोरी की आदत उनकी साधारण इच्छाओं को तृप्त करके ही छुड़ाई जा सकती है। मारपीटकर जब इस प्रकार की आदत छुड़ाई जाती है तो वह आदत किसी दूसरी जटिल आदत में परिणत हो जाती है अथवा इससे बालक सदा के लिए निराशावादी और निकम्मा हो जाता है। किसी भी बालक में नैतिक भावनाएँ

बरबस नहीं ठूँसी जा सकती हैं। बालक का प्रारंभिक जीवन स्वार्थी होता है। उसका जीवन धीरे धीरे स्वार्थ परायणता से विकसित होकर परमार्थी बनता है। यदि बालक की स्वार्थमयी इच्छाओं को कुचल दिया जाय तो उसका व्यक्तित्व सुविकसित न होकर जटिल बन जाता है। उसका स्वार्थीपना उसके आंतरिक मन में बैठ जाता है। ऐसा बालक ऊपर से बड़ा सुशील और सदाचारी बन जाता है, किन्तु भीतर से उसका स्वभाव ठीक इसके प्रतिकूल हो जाता है।

बचपन में स्वार्थमयी इच्छा के दमन के परिणाम स्वरूप व्यक्ति की प्रौढ़ावस्था में अनेक प्रकार के आचरण के दोष प्रगट होते हैं। जिस बालक को बचपन में चोरी करने का अवसर नहीं मिलता वह प्रौढ़ावस्था में उदारचित्त न होकर क्रूरकर्मा और ठग बन जाता है। वह दूसरों के धन अपहरण करने के नए नए उपाय सोचता है, और सभ्य कहे जानेवाले मार्गों से वह दूसरों की सम्पत्ति और परिश्रम की चोरी करता है। मनुष्य की दूसरों का धन चुराने की गुप्त इच्छा ही पूँजीवाद का आधार है।

कितने ही बालक मजा करने के लिए चोरी करते हैं इस प्रकार की चोरी कृष्ण भगवान ने भी की थी। हम जानते हैं कि भगवान कृष्ण का जीवन कितना सुविकसित था। उनकी खाने खेलने की इच्छाएँ भली-भाँति से बचपन में ही तृप्त हो गई थीं। इसी के परिणाम स्वरूप वे अपनी प्रौढ़ावस्था में महायोगी हुए और संसार को कर्मयोग का मार्ग सिखा सके। यदि कृष्ण को अपने बचपन में दधि माखन की चोरी का अवसर न मिला होता और उन्हें अनेक प्रकार की बाल लीला करने में प्रोत्साहन न मिलता तो सम्भव है कि वे निष्काम कर्म

का शान्ति पथ संसार को न दिखा पाते। सुविकसित व्यक्तित्व का मनुष्य ही संसार का योग्य सुधारक और अगुआ होता है।

कितने ही बालक दूसरे बालकों को चिढ़ाने के लिए चोरी करते हैं। यदि बालकों में प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो जाय तो इस प्रकार की प्रवृत्ति का अन्त हो जाय। किन्तु हमें इस प्रकार की प्रत्येक चोरी को अनैतिक न मानना चाहिये। किसी बालक को परेशान करना भी उसके प्रेम प्राप्त करने का एक उपाय जो कि बालक का अचेतन मन काम में लाता है। धनी घर के बालक इसी प्रवृति से प्रेरित होकर अपने मित्रों की छोटी-छोटी वस्तुएँ चुरा लेते हैं। इस प्रकार की चोरी को जितनी ही हम विख्याति करते हैं उतना ही हम बालक के व्यक्तित्व को हानि पहुँचाते हैं।

कभी कभी बालक के मन में जटिल मानसिक ग्रन्थि के कारण चोरी करने की आदत पैदा हो जाती है। जब हम बालक से किसी ऐसे सत्य को चुराते हैं जिसके जानने के लिए उसका अज्ञात मन उत्सुक है तो उसमें चोरी करने की आदत पड़ जाती है। इस प्रसंग में नील महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

बिली नाम का एक बालक जिसे चोरी की आदत पड़ गई थी नील महाशय के सोमर्सहिल नामक स्कूल में भरती हुआ। यह स्कूल जटिल बालकों के सुधार के लिए ही खोला गया है। इसमें प्रेम व्यवहार द्वारा बालक की जटिल आदतों में परिवर्तन किया जाता है।

बिली ने स्कूल में आने के तीन ही दिन पश्चात् एक अध्यापक के कमरे से एक सोने की घड़ी चुरा ली। उसने उस घड़ी को पत्थर से कुचल डाला और कहीं छुपाकर रख दिया।

जब उससे घड़ी के बारे में पूछा गया तो उसने कहा कि मैंने घड़ी नहीं देखी है। वास्तव में वह इस घड़ी के विषय में भूल गया था। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसकी चोरी करने की आदत का कारण उससे बच्चों के जन्म सम्बन्धी सत्य के विषय में झूठ ज्ञान देने के कारण उत्पन्न हुई थी। जब उसे अपने जन्म सम्बन्धी बातों का रहस्य ज्ञात हो गया, तो उसकी चोरी की आदत का अन्त हो गया।

ठगने की आदत

कितने बालकों में दूसरों को ठगने की आदत होती है। दूसरों को ठगने की आदत का उदय अपने आपको दूसरों से अधिक योग्य सिद्ध करने की इच्छा से होती है। प्रत्येक व्यक्ति में प्रबल आत्मप्रकाशन की इच्छा होती है। जब इस इच्छा का दमन होता है तो वह ठगने की इच्छा में परिणत हो जाती है। बालक के ठगने के कामों से जितना ही हम परेशान होते हैं हम उसकी आदत को उतना ही जटिल बना देते हैं। जब ठगने की आदत जटिल बन जाती है तो मारने पीटने से नहीं जाती। वह इससे दिन प्रतिदिन और जटिल होती जाती है। इस प्रकार की आदत का निवारण प्रेम के व्यवहार से किया जा सकता है। इस प्रसंग में नील महाशय का निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है—

नील महाशय के पास एक बार आर्थर नामक एक ऐसा बालक लाया गया जिसमें ठगने की जटिल आदत थी। जब वह नील महाशय के स्कूल में रहता था एक बार इस बालक ने टेलीफ़ोन के द्वारा नील महाशय को बड़ा धोका दिया। उसने टेलीफ़ोन की घंटी से नील महाशय को बुलाया। नील

को उसके चाचा की ओर से यह संदेशा कहा कि आर्थर को शीघ्र ही मेरे पास भेज दीजिये। नील महाशय ने इस सन्देश को आर्थर को सुनाया और उससे घर जाने की तैयारी करने को कहा। आर्थर ने कहा मेरे पास काफी पैसा नहीं है। इसी बीच में नील महाशय को एक टेलीफ़ोन आर्थर की माँ से मिला। आर्थर की माँ ने नील महाशय से कहा कि आप आर्थर को एक पौंड घर आने के लिए दे दीजिये। इस आदेश के अनुसार नील ने अपनी पत्नी को आर्थर को एक पौण्ड देने को कह दिया। नील महाशय को पीछे पता चला कि यह सब काम आर्थर का ही था टेलीफ़ोन से वही बोलता था। अब प्रश्न आया कि आर्थर के साथ कैसा व्यवहार किया जाय।

दोनों पतिपत्नी आर्थर के पास गये और उसको एक पौण्ड दे दिया, किन्तु उससे कहा कि हमारे पास तुम्हारी माँ का एक और टेलीफोन आया है कि तुम्हें इतना पैसा पर्याप्त न होगा। यह सुनकर लड़का घवड़ा गया। वह जान गया कि मेरी ठगी का सब भेद खुल गया। ऐसी स्थिति में उसे मार खाने की आदत पड़ गयी थी। वह सोचता था कि मुझ पर अब मार पड़ेगी। नील महाशय उसे पैसा देकर मुसकुराते हुए वापस आ गये। पर उनके इस व्यवहार से उस लड़के की ठगने की प्रवृत्ति नष्ट हो गई।

चिढ़ने और चिढ़ाने की आदत

प्रायः देखा गया है कि जहाँ कोई बालक दूसरे बालकद्वारा चिढ़ाये जाने की शिकायत करता है तो इसके लिए चिढ़ानेवाला बालक उतना दोषी नहीं होता जितना कि चिढ़नेवाला बालक दोषी होता है। जो बालक चिढ़ता है उसे चिढ़ाने के

लिए बालकगण अनेक प्रयत्न करने लगते हैं। चिढ़नेवाले बालक में आत्मविश्वास का अभाव रहता है। इसलिए वह दूसरों की नुक्ताचीनी की बड़ी परवाह करता है। चिढ़ने की आदत का अन्त बालक में आत्मविश्वास बढ़ाकर किया जा सकता है। इसके लिए बालक को सदा रचनात्मक कामों में लगाये रहना आवश्यक है। संसार में बड़े से बड़े व्यक्ति के कामों की तीव्र आलोचना होती है। अपनी आलोचना को सुनकर वही व्यक्ति अनुद्विग्न मन रह सकता है जो किसी बड़े रचनात्मक कार्य में लगा रहता है। रचनात्मक कार्य में लगे रहने से मनुष्य को अपनी आलोचनाओं को जानने का अवसर मिलता है, उन पर धुनावीधी करने का अवसर नहीं मिलता। अपने चरित्र के दोषों को जानने से अपने आचरण में सुधार होता है; अपनी आलोचना पर धुनावीधी करने से आचरण बनता नहीं, बिगड़ता है।

जिस बालक में दूसरे बालक को चिढ़ाने की आदत पड़ गई है उसकी मानसिक स्थिति एक रोगी व्यक्ति जैसी है। प्रेम का भूखा बालक ही चिढ़ाने की आदत का आश्रय लेता है। दूसरे को चिढ़ाना उसके प्रति प्रेम-प्रकाशन का विकृत रूप है। यदि चिढ़ानेवाले बालक को प्रेम जनित आनंद की अनुभूति किसी प्रकार होने लगे तो उसकी चिढ़ाने की आदत का अन्त हो जाय।

मारगन और गिलीलेंड महाशयों ने दर्शाया है कि प्रत्येक संवेग अपने विपरीत संवेग में परिणत हो सकता है। मनकी एक बार भावात्मक अवस्था होने पर दूसरे प्रकार की अनुकूल भावात्मक स्थिति में बदली जा सकती है। बालक इसे जानता है। वह अपनी बहन को इसलिए चिढ़ाता है जिससे कि उसके

मन में किसी प्रकार का भाव उस बालक के प्रति उत्पन्न हो, वह उसके प्रति उदासीन न बनी रहे। जब वह बहिन को चिढ़ाकर एक प्रकार के भाव से उसके मन को रञ्जित कर देता है तो पीछे उसे अनुकूल भाव में परिणत करना सरल हो जाता है। बहिन चिढ़ानेवाले भाई को उससे कुछ नहीं बोलनेवाले भाई की अपेक्षा अधिक प्यार करती है। इससे यह प्रत्यक्ष है कि एक बालक का दूसरे बालक को चिढ़ाना सर्वथा बुरा नहीं है। बालकों के मानसिक विकास के लिए यह आवश्यक है।

दसवाँ प्रकरण

रचनात्मक कार्य

बालक का जीवन स्फूर्तिमय होता है। वह सदा कुछ न कुछ करते रहना चाहता है। वह अनेक पदार्थों को छूता, उनको उठाता; तोड़ता मरोड़ता, इधर उधर लेकर भागता है। हँसना खेलना, कुछ न कुछ बोलते रहना, यह बालक के जीवन का स्वाभाविक गुण है। प्रौढ़ व्यक्ति का जीवन उतना क्रियामय नहीं होता जितना कि बालक का होता है। जीवन का स्वभाव क्रियामय है, जिस व्यक्ति में जितनी क्रियाशीलता देखी जाती है वह उतना ही सजीव है। प्रौढ़ व्यक्तियों का जीवन चिन्ताओं से भर जाता है। ये चिन्ताएँ उसके जीवन के प्रवाह को सुचारु रूप से बहने में रुकावट डालती हैं। बालक के जीवन में चिन्ताओं का अभाव रहता है, अतएव उसकी क्रियाएँ आत्म-स्फूर्तिमय होती हैं। बालक न भूतकाल में रहता है और न भविष्य में ; वह वर्तमानकाल में रहता है। वर्तमान काल में रहने के कारण ही बालक के जीवन में चिन्ताओं का अभाव रहता है और उसकी रचनात्मक कार्य करने की शक्ति प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है।

रचनात्मक कार्य के लक्षण और उपयोगिता

आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में रचनात्मक कार्यों पर ज़ोर डाला जा रहा है। इस प्रकार का विचार शिक्षा में प्रगति-

शीलता दर्शाता है। रचनात्मक कार्यों से बालक का वातावरण के अनेक पदार्थों का ज्ञान बढ़ता है, उसमें अपने ऊपर नियन्त्रण करने की शक्ति आती है, वह अपनी शक्ति से परिचित होता है, वह किसी विशेष लक्ष्य के अनुसार काम करना सीखता है, उसमें आत्म-विश्वास आता है, उसमें निरीक्षण, कल्पनाशक्ति और संलग्नता की वृद्धि होती है और उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है। रचनात्मक कार्यों से दूसरों के प्रति सहानुभूति दर्शाने का भाव बढ़ता है, बालक का निकम्मापना चला जाता है और उसमें हिम्मत से काम करने की आदत पड़ जाती है। रचनात्मक कार्यों को इन्हीं कारणों से नवीन शिक्षा-प्रणाली में विशेष महत्व का स्थान दिया जाता है।

नवीन मनोविज्ञान के पण्डितों ने रचनात्मक कार्यों की उपयोगिता पर नया प्रकाश डाला है। हमने बच्चों के खेल और खिलौनों का वर्णन करते समय यह दर्शाया है कि रचनात्मक कार्यों से बालकों की उन अनेक आदतों में सुधार हो जाता है जो उनमें प्रौढ़ व्यक्तियों की बेसमझी के कारण पड़ जाती हैं। बिस्तर में पेशाब करना, जननेन्द्रिय छूना, चुगली करना, झूठ बोलना, सिगरेट पीना, आदि अनेक बुरी आदतें रचनात्मक कार्यों के द्वारा नष्ट की जा सकती हैं। जो बालक अधिक डाँटा जाता है, उसमें अनेक बुरी आदतें पड़ जाती हैं। ये आदतें डाँटे जाने के प्रतिक्रिया स्वरूप होती हैं। ऐसे बालकों के मन में आत्महीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है। इस ग्रन्थि के कारण उसमें अनेक चरित्र दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक डाँटे जानेवाले बालक का आत्म-विश्वास छूट जाता है। रचनात्मक कार्यों से बालक का खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर आ जाता है। आत्म-विश्वास के आने पर बालक का जीवन

सुचारु रूप से प्रवाहित होने लगता है। जिस व्यक्ति की जीवनधारा सुचारु रूप से प्रवाहित होती रहती है उसमें कोई चरित्रदोष ठहर नहीं पाता।

रचनात्मक कार्य हम किसे कह सकते हैं, इसे हमें जानना परमावश्यक है। बालक का प्रत्येक कार्य रचनात्मक कार्य नहीं होता। बरट्रेन्स रसेल महाशय ने रचनात्मक कार्य का स्वरूप दर्शाते हुए बताया है कि रचनात्मक कार्य वह है जिसके द्वारा हम अपने पूर्व निश्चित विचार के अनुसार किसी प्रकार की सृष्टि करें। ये ध्वंसात्मक कार्यों से इस गुण में पृथक होते हैं। ध्वंसात्मक कार्य करना सरल होता है और उनके करने में नई विशेष प्रकार की सृष्टि-निर्माण करने का विचार नहीं रहता। ध्वंसात्मक कार्य में पहले से यह नहीं सोचा जाता कि जो पदार्थों की नई स्थिति होगी वह कैसी होगी। जब स्थिति में परिवर्तन मात्र करने के लिए स्थिति परिवर्तित की जाती है तो कार्य ध्वंसात्मक होता है और जब किसी पूर्व निश्चित स्थिति को उत्पन्न करने के लिए कोई स्थिति बदली जाती है तो कार्य रचनात्मक कहलाता है।* रचनात्मक कार्यों में

---

* "Construction and destruction alike satisfy the will to power, but construction is more difficult as a rule, and therefore gives more satisfaction to the person who can achieve it.....I suppose we construct when we increase the potential energy of the system in which we are interested, and we destroy when we diminish its potential energy. Or, in more psychological terms, we construct when we produce a predesignd structure, and we destroy when we liberate natural forces to alter an existing structure, without being interested in the resulting new structure".—Russel, *On Education,* P. 109.

शक्ति का प्रकाशन अधिक होता है और इससे अधिक आनन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि शक्ति के प्रकाशन में ही आनन्द है। रचनात्मक कार्य में विचार की प्रधानता होती है, क्रिया विचार की अनुगामिनी होती है। इसी कारण रचनात्मक कार्य मानसिक विकास के लिए लाभकारी होते हैं। रचनात्मक कार्यों के द्वारा बालक के नए जीवन का निर्माण होता है। इनके द्वारा उसकी चेतना संवेदनात्मक जगत से उठकर विचार मय जगत में जाती है।

रचनात्मक कार्य और रचनात्मक आनन्द

होमरलेन महाशय ने रचनात्मक कार्यों के एक नये पहलू को दर्शाया है। उनके कथनानुसार रचनात्मक कार्य वे हैं जिनमें रचनात्मक आनन्द की अनुभूति हो*। मनुष्य का आनन्द दो प्रकार का होता है—एक रचनात्मक† और दूसरा रक्षात्मक‡। उत्साह से किये गये कार्य रचनात्मक आनन्द की उत्पत्ति करते हैं; भय से किये गये कार्य रक्षात्मक आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। इन दोनों प्रकार के आनन्दों का भेद हम नौकर और स्वामी के काम करने में पाते हैं। काम करने में दोनों ही को किसी न किसी प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। पर स्वामी का आनन्द रचनात्मक आनन्द होता है और दास का आनन्द रक्षात्मक होता है। एक काम को आत्म-स्फूर्ति से करता है, दूसरा उस काम को परवश करता है। एक अन्तिम परिणाम के विचार से प्रेरित होकर काम करता है;

---

* Homer Lane, *Talks to Parents and Teachers*, P.124.

† Creative happiness. ‡ Possessive happiness.

दूसरा मालिक के हुक्म से बँधे रहने के कारण काम करता है। एक उत्साह से प्रेरित होता है और दूसरा भय से।

मनुष्य को सदा अनेक प्रकार का भय लगा रहता है। आजीविका चले जाने का भय, अपनी स्थिति से गिर जाने का भय, धन खो जाने का भय, स्वास्थ्य बिगड़ जाने का भय, समाज का भय, ईश्वर का भय इत्यादि सदा मनुष्य को त्रास देते रहते हैं। इन्हीं भयों के कारण उसका मन चिन्ता से खोखला हो जाता है। किसी प्रकार के भय के निवारण होने से आनन्द की अनुभूति होती है। पर इस प्रकार का आनन्द रच-नात्मक आनन्द नहीं होता। इस प्रकार का आनन्द रक्षात्मक आनन्द कहा जाता है। रचनात्मक आनन्द की अनुभूति स्फूर्तिजन्य कार्यों से होती है। जो काम किसी चिन्ता से प्रेरित होकर नहीं किया जाता, जिसके न करने से भी हम अपना कोई बिगाड़ नहीं देखते तिसपर भी हम उसे करते हैं, वह रचनात्मक आनन्द की उत्पत्ति करता है। हम जितना ही अधिक अपने जीवन में भयों की वृद्धि करते हैं अपने रचनात्मक आनन्द का उतना ही अधिक विनाश करते हैं। भय और चिन्ता के अभाव में ही रचनात्मक आनन्द की अनुभूति संभव है।

बालकों के जीवन में रचनात्मक आनन्द की अनुभूति की जितनी संभावना है उतनी प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन में नहीं होती। उनकी आशाएँ परिमित रहती हैं, उनके भयों की संख्या कम रहती है, अतएव वे अधिक आत्म-स्फूर्ति से प्रेरित होकर काम करते हैं। जैसे जैसे बालक की अवस्था बढ़ती है उसके रचनात्मक आनन्द का अन्त होता जाता है। इसका प्रधान कारण हमारी दूषित शिक्षा है। जब कोई बालक किसी काम को उत्साह से नहीं, वरन् डर से करने लगता है, तो उसका

रचनात्मक आनन्द नष्ट हो जाता है। जब हम बार-बार बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के प्रकाशन में बाधा डालते हैं तो हम उनका मार्गान्तरीकरण न करके उनका अवरोध कर देते हैं। इस प्रकार बालक आत्म-प्रकाशन से डरने लगता है। पीछे जब वह निकम्मा हो जाता है तो हम उसे डाँट-फटकार कर काम में लगाते हैं। इस तरह बालक हमारे डाँटने के कारण काम अवश्य करता है, पर उसकी प्रतिभा, स्फूर्ति और रचनात्मक आनन्द का अन्त हो जाता है।

रचनात्मक आनन्द और शिक्षा

हमारे साधारण पाठशालाओं की शिक्षा भी बालकों के रचनात्मक आनन्द का विनाश करती है। जब किसी बालक का ध्यान डाँट डपट कर किसी विषय की ओर लगाया जाता है और जब बालक मार पीट से बचने के लिए अपने पाठ को याद करने लगता है तो उसकी प्रतिभा नष्ट हो जाती है। काम के कर लेने पर उसे रक्षात्मक आनन्द की अनुभूति भले ही हो, रचनात्मक आनन्द की अनुभूति नहीं होती। जिस व्यक्ति की बचपन में भय से प्रेरित होकर काम करने की आदत पड़ जाती है वह जीवन भर भय से बचने के लिए ही काम करते रहता है। उसके जीवन में उत्साह का अभाव रहता है। वह किसी क्रिया के करने में फल से स्वतन्त्र कोई आनन्द की अनुभूति नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का जीवन स्वार्थमयी रहता है। जो व्यक्ति आत्मरक्षा से प्रेरित होकर ही सब काम करता है उससे परोपकार की आशा कैसे की जा सकती है? परमार्थी वही व्यक्ति हो सकता है जो रचनात्मक आनन्द की महत्ता को

जानता है, जो भय से प्रेरित न होकर आत्म-स्फूर्ति से प्रेरित होकर किसी काम को करता है।

किसी भी बालक को उतना ही काम देना आवश्यक है जितना कि वह उत्साह से कर सके। दण्ड के भय से बालक काम अवश्य कर लेता है, पर इस प्रकार के कार्य से उसके चरित्र में उन गुणों का विकास नहीं होता जिनका स्वावलम्बी, समाज-सेवी निर्भीक व्यक्ति में होना आवश्यक है। जब भय के वातावरण में पले बालक को स्वतन्त्र वातावरण में रखा जाता है तो पहले पहल वह निकम्मा अथवा उद्दण्ड जैसा दिखाई देता है। इससे हम प्रायः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस विशेष बालक के लिए दण्ड देते रहना ही आवश्यक है। पर यह हमारी भूल है। स्वतन्त्र वातावरण में दण्ड द्वारा बिगाड़े गए बालक का थोड़े समय के लिए उद्दण्ड अथवा निकम्मा हो जाना आवश्यक है। यह उसके ऊपर किये गये पूर्व अत्याचार की प्रतिक्रिया मात्र है। स्वतन्त्र वातावरण में कुछ काल तक रहने पर बालक में उन गुणों का धीरे धीरे आविर्भाव होता है जो उसको सुखी और स्वावलम्बी नागरिक बनाने के लिए आवश्यक हैं। डाक्टर होमरलेन के सुधारगृह और नील महाशय के अपने सोमर्सहिल स्कूल के प्रयोगों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है।

रचनात्मक कार्यों की व्यापकता

प्रत्येक प्रकार का आत्म स्फूर्ति से किया गया कार्य रचनात्मक कार्य है। जिस किसी काम को व्यक्ति सोच विचार कर उत्साह के साथ करता है उसे हम रचनात्मक कार्य कह सकते हैं। रचनात्मक कार्य वैयक्तिक और सामाजिक दो प्रकार के

होते हैं जब बालक किसी काम को अपने आप ही करता है तो उसका रचनात्मक कार्य वैयक्तिक होता है। जब वह किसी कार्य को दूसरे की सहायता से करता है। तो उसका कार्य सामाजिक रचनात्मक होता है। रचनात्मक कार्यों में किसी वाह्य पदार्थ का उपयोग किया जा सकता है, अथवा किसी वाह्य पदार्थ के बिना भी रचनात्मक कार्य हो सकता है। बात-चीत करना, गीत गाना, नाचना, अभिनय करना—ये सभी रचनात्मक कार्य हैं जिनमें बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। ये सभी कार्य बालक के मन में रचनात्मक आनन्द की उत्पत्ति करते हैं।

बाह्य पदार्थों की सहायता से भी रचनात्मक कार्य किये जा सकते हैं। शिक्षकगण साधारणतः इसी प्रकार के कार्य्यों को रचनात्मक कार्य मानते हैं। यह उनकी भूल है। मट्टी के खिलौने बनाना, कागज काट कर विभिन्न प्रकार के चित्र बनाना, रंग से कागज पर चित्र बनाना, लकड़ी से अनेक प्रकार को खेल की अथवा दूसरे तरह की उपयोगी चीजें बनाना, बगीचे में पेड़-पौधे लगाना, उन्हें सींचना आदि सभी रचनात्मक कार्य हैं। इन रचनात्मक कार्यों में बाह्य सामग्री की आवश्यकता होती है। भारतीय नवीन शिक्षा-प्रणाली में इस प्रकार के कार्यों की वृद्धि की जा रही है। अनेक शिक्षकगण बालकों से रचनात्मक कार्य कराने में कुशलता दिखानेके लिए बालकों को अनेक प्रकार के इस तरह के कामों में सब समय लगाये रहते हैं। इन शिक्षकों को यह जानना आवश्यक है कि रचनात्मक कार्य कोई विशेष कार्य का नाम नहीं है। बालक ही रचनात्मक कार्य नहीं करते, प्रौढ़ व्यक्ति भी रचनात्मक कार्य करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने साधारण कार्य को रचनात्मक कार्य बना सकता

है। रचनात्मक कार्य की आत्मा रचनात्मक आनन्द है। जिस कार्य के करने में रचनात्मक आनन्द की अनुभूति हो वही कार्य रचनात्मक कार्य है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि जो काम बालक आत्मस्फूर्ति से नहीं, वरन् बरबस करता है वह रचनात्मक कार्य नहीं है, चाहे देखनें में वह कैसा ही भला क्यों न हो। रचनात्मक कार्य की महत्ता उत्पादित वस्तु की मौलिकता में नहीं है, उसकी महत्ता बालकों की कार्य करते समय की अनुभूति में है। बहुत से सुन्दर चित्र जो प्रायः प्रदर्शनियों में दिखाये जाते हैं, रचनात्मक भाव से नहीं बनाये जाते। जिस चित्र को बालक अथवा शिक्षक आत्मस्फूर्ति से नहीं वरन् भय अथवा लोभवश बनाता है, वह रचनात्मक कला को नहीं दर्शाता। किसी भी कार्य को रचनात्मक कहने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि उस काम के करने में बालक को स्वतन्त्रता और रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है अथवा नहीं।

किसी भी कार्य की मौलिकता उससे उत्पादित वस्तु में नहीं होती, वरन् कार्य करने के भाव में होती है। जिस कार्य का हेतु ऊँचा होता है, वही कार्य ऊँचा है। जिस कार्य का हेतु नीचा होता है वह नीचा है। जो कार्य स्वतन्त्रता और आत्मस्फूर्ति से किये जाते हैं वे ही भले काम कहे जाते हैं। ऐसे ही काम चरित्र के उन सद्गुणों को विकसित करते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने आप तथा दूसरे लोगों को सुखी बनाता है। परावलंबन में रहनेवाला व्यक्ति सदा दुःखी रहता है और दूसरों को दुःखी बनाता है। परावलम्बन की मनोवृति के व्यक्ति से संसार की भलाई की कोई आशा नहीं की जा सकती। रचनात्मक कार्यों के द्वारा बालक की परावलम्बन की मनोवृत्ति

का अन्त होता है, उसमें स्वाभिमान और स्वावलम्बन का भाव जागृत होता है। इसीलिए ही बालक की शिक्षा में सदा रचनात्मक कार्यों का ध्यान रखना आवश्यक है।

बालक के प्रत्येक पाठ्य-विषय में रचनात्मक कार्यों की वृद्धि की आवश्यकता है। किसी विशेष समय पर रचनात्मक कार्यों का करना वास्तव में रचनात्मक कार्यों के वास्तविक अर्थ के प्रतिकूल जाना है। जो भी काम बालक स्फूर्ति से करता है रचनात्मक कार्य है, चाहे वह भाषा का, व गणित का अथवा हाथ की कारीगरी का काम हो। रचनात्मक आनन्द की कसौटी से ही हमें सदा रचनात्मक कार्य की परख करनी चाहिए।

होमरलेन का बाल-प्रजातन्त्र

उद्दण्ड और अपराधी बालकों के सुधार के लिए जितने प्रयोग किये गये हैं उनमें डाक्टर होमरलेन का प्रयोग सबसे अधिक महत्व का है। इसका वर्णन स्वयं डाक्टर होमरलेन ने अपनी पुस्तक "सेक्स टू पेरेन्ट्स एण्ड टीचर्स" में किया है। यह बालकों की भलाई चाहनेवालों के लिए लाभप्रद है, अतएव उस वर्णन का सारांश यहाँ दिया जाता है—

"बाल प्रजा-तंत्र" एक शिक्षा समाज है, जिसमें कुछ मास से लेकर उन्नीस वर्ष की अवस्था तक के बालकों के लिए यह शिक्षा द्वारा प्रबन्ध किया गया है छोटी उम्र वाले अनाथ, और तेरह से अधिक आयुवाले अपराधी बच्चे रहें। इसमें कुछ वर्षों के लिए शिक्षा प्राप्त करने को भेजे गए हैं। इस समय यहाँ चार स्त्रियाँ, एक युवक, चौदह से उन्नीस वर्ष तक के बयालीस लड़के-लड़किया, तथा नौ छोटे बच्चे थे। इनको तीन परिवारों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्थान स्वयं चुनने की स्वतन्त्रता है। लड़के-लड़कियाँ एक ही परिवार में रहते हैं और सबके ऊपर समान रूप से परिवार-सञ्चालन तथा नियन्त्रण और छोट बच्चों की देख रेख का उत्तर दायित्व है। इस प्रजातन्त्र और इस प्रकार के अन्य सुधार-गृहों में मुख्य अन्तर यही है कि यहाँ अपने बनाये नियमों के अतिरिक्त अन्य कोई आदेश उन पर नहीं लगाये

जाते। चौदह वर्ष से ऊपर वाले 'नागरिक' कहे जाते हैं तथा स्वतः सामूहिक रूप से अपना प्रबन्ध व नियन्त्रण करते हैं। अपने विभागों की अध्यक्षता के अतिरिक्त बड़े व्यक्ति किसी प्रकार की अधिकार-सत्ता का भाव नहीं दर्शाते। नागरिक अपने सामर्थ्यानुसार कार्य करके प्रजातन्त्र से धन प्राप्त करते हैं तथा भोजन, वस्त्र, मनोरञ्जन के साधनादि का स्वयं प्रबन्ध करते हैं। बाह्य समाज के अनुरूप ही यहाँ भी कार्य के लिये वेतन दिया जाता है। नियत स्कूल-कार्यक्रम के अतिरिक्त बड़े व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन के लिए कार्य करते हैं; और चौदह वर्ष से कम अवस्था वाले अपने इच्छानुसार निर्धारित कार्य में व्यस्त रहते हैं।

आलसी व असावधान नागरिक यदि अपने आवश्यकतानुसार जीविकोपार्जन नहीं कर सकता तो कर द्वारा सञ्चित जन-कोष से उसका पालन होता है। यदि कोई व्यक्ति असन्तुष्ट होकर भाग जाय या कुछ हानि पहुँचाये अथवा भोजनादि का व्यय न चुकाये,तो उसका भी खर्च इसी प्रकार दिया जाता है। यदि नागरिक-न्यायालय द्वारा किसी अपराधी नागरिक को ऐसा दण्ड दिया जाय, जिससे उसके जीविकार्जन में बाधा पड़े, तो उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तर दायित्त्व भी सारे समाज पर होता है।

इस प्रकार, प्रजातन्त्र में उन्नति और सदाचार में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित है। मानवी सद्गुणों के विकास के लिए इससे अच्छा और क्या आयोजन हो सकता है। पिछले चार वर्षों में हमें इन गुणों के प्रत्यक्ष होते देखने का अनुभव प्राप्त हुआ है। नागरिकों का अपराधी व्यक्ति के प्रति व्यवहार स्वयं उनके चरित्र को स्पष्ट करता है। अतः हमारा विश्वास है कि

अर्थ योजना (चाहे वह अर्थ हानि करने वाला हो या न हो) का प्रमुख स्थान होते हुए भी प्रजातन्त्र का सदाचरण धन तक ही सीमित नहीं है, अर्थात् विश्वास पात्रता केवल नीति ही नहीं, अपितु आचरण का अङ्ग है। प्रारम्भ में जब नागरिक बच्चे उत्तरदायित्त्व सम्भालना सीख ही रहे थे, अपराधी बच्चों के प्रति उनके दृष्टिकोण में कभी कभी आकस्मिक परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होते थे। एकाएक कठिन दण्ड देकर उसे बदल दिया जाता था, किन्तु धीरे धीरे कठिन दण्डों का स्थान केवल हानि-पूर्त्ति करने की आज्ञा ले लेती थी। प्रत्येक परिवर्त्तन मनोवैज्ञानिक रूप से अध्ययनीय होता था।

सबसे अधिक रोचक समय वह था जब पन्द्रह वर्ष के अपराधी बच्चों ने अपने शासन का उत्तरदायित्व धारण करना प्रारम्भ किया। इन्हें सामाजिक व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान न था। अर्थ योजना के विषय में प्रायः ये अनभिज्ञ थे। नगर के गली-कूचों में मारे मारे फिरने वाले, अधिकारीवर्ग से त्रस्त और दण्डित, सब ओर से भयभीत, इन बच्चों में आत्मनियन्त्रण का किञ्चित् भी विकास न था। केवल आत्मरक्षा के निमित्त संगठन करना ही ये जानते थे, अन्यथा इनकी दशा बड़ी ही करुणाजनक और कुचली हुई थी। संगठित रूप से ये अत्याचारी, निर्भय और समाज के विरुद्ध थे तथा व्यक्तिगत रूप से निष्क्रिय और दयनीय।

समाज और संगठन के विषय में इनके विचारों को बदलने के लिए असाधारण उपायों का अवलम्बन लेने की आवश्यकता थी। उचितानुचित का विवेक उन्हें था, किन्तु सदाचार रूप से नहीं। जब हमने उन्हें अपनी इच्छानुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता दी तो उन्हें विश्वास ही न हुआ। हमारे सामने

वे भयभीत और बचे हुए से रहते थे। अलग से वे क्रियाशील, मौलिक. प्रगतिशील थे—किन्तु उनकी मनोवृत्ति विनाश की ओर झुकी हुई थी। जो भी लड़का भद्दी से भद्दी भाषा प्रयोग कर सकता, अधिक से अधिक हानि पहुँचा सकता, और बड़े आदमियों के सम्मुख उद्दण्ड हो सकता, वही इनका नेता होता था। वैसे वे सब असाधारणतः आज्ञाशील थे, किन्तु यह उनकी दुर्बलता का न कि शक्ति का चिन्ह था। उनके आदर्श समाज के विरुद्ध थे।

साधारणतः हम, बच्चों की अवाञ्छनीय क्रियाओं को कुचल कर, उनके ऊपर अपने आदर्श लादकर, उन्हें सुधारना चाहते हैं। परन्तु, उचित उपाय यह है कि बच्चों को उनकी क्रियाओं में उकसा कर उन्हें स्वयं हितकर वस्तु का पता लगाने दिया जाय। इस प्रजातन्त्र में यही विधि स्वीकार की गई। मैं इस समुदाय का सदस्य बना और उनके अनुचित कार्यों में भाग लेकर अधिक शीघ्र उनके भयङ्कर परिणामों को उनके समक्ष उपस्थित करने में कारण बना। इससे उनका ध्यान दूसरी दिशाओं में गया और उन्होंने अपने आदर्शों में परिवर्त्तन प्रारम्भ किये। अधिक उद्दण्ड लोगों की आलोचना होने लगीं और रचनात्मक कार्यों की ओर उनका ध्यान अग्रसर हुआ। अब नियमों की अपेक्षा होने लगी और न केवल शासन प्रणाली का सञ्चालन प्रारम्भ हुआ अपितु न्यायालय भी स्थापित किया गया। नागरिक बच्चों के वास्तविक भाव का पता उनके न्याय-क्रम को देखकर लगता है। मैं तो यह मानता हूँ कि हमारे बड़े न्यायालय केवल राज्य सत्ता के अनुगामी हैं, जनता के मनोभावों या अन्तर् उद्गारों को प्रगट करने वाले नहीं। बाल प्रजातन्त्र में सब नागरिक न्यायालय के

कार्यक्रम में भाग लेते हैं और अपनी सम्मति प्रगट करते हैं। सामूहिक सम्मति ही यहाँ की सबसे बड़ी सत्ता है और इसी के द्वारा प्रत्येक झगड़े का निर्णय होता है। हर एक नागरिक के लिए सम्मति प्रगट करना अनिवार्य है।

बाल प्रजातन्त्रके बालकों की अवांछनीय आदतों के सुधार के कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

उदण्डता का निवारण

एक बार यहाँ १६ वर्ष का एक बड़ा ही उद्दण्ड छात्र आया। नागरिक समाज और शासन का कोई भी नियम उसे पसन्द न था। वह हर दिन यहाँ से भाग जाया करता किन्तु अधिकारिवर्ग उसे पकड़ कर बारबार वापिस भेज देते। उससे सब लोग इतने तङ्ग आ गये कि, यह प्रस्ताव किया जाने लगा कि उसे बन्दी कर दिया जाय। एक बार जब अपने प्रजातंत्र के दूसरे नागरिकों के साथ चाय-पानी के लिए बैठा हुआ था, तो वह बड़ा अन्यमनस्क हो रहा था। डा० होमरलेन ने उससे पूछा, "तुम्हारी तबियत नहीं लगती तो भाग क्यों नहीं जाते?" उत्तर मिला, "लाभ क्या? फिर पकड़ कर भेज दिया जाऊँगा।" होमरलेन ने कहा, "कोई नवीन उपाय क्यों नहीं खोज निकालते?"—वह बोला, "मैं क्या कर सकता हूँ।" होमरलेन ने सुझाया, "लड़कों से मैत्री स्थापित करके अगली बार प्रधान पद पर चुनाव करा लो, बस, फिर जैसे चाहो यहाँ का नियन्त्रण करना"। वह अविश्वास सूचक दृष्टि से डा० होमरलेन की ओर देखने लगा कि कहीं वे उसको बेवकूफ तो नहीं बना रहे हैं। डाक्टर होमरलेन ने फिर पूछा, "अच्छा, यदि तुम्हें स्वतन्त्रता दी जाय तो क्या करोगे?" वह इधर उधर

देखने लगा और फिर गुस्से के स्वर में कहने लगा, "मेरे सामने जो ये चीनी के पात्र रक्खे हैं, इन्हें तोड़ डालूँगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह औरतों और नाजुक-मिज़ाज़ पुरुषों के लिए हैं।"

"तो तोड़ क्यों नहीं डालते ?"

"अब यदि आपने फिर से कहा तो मैं सचनुच तोड़ डालूँगा !"

"हाँ, हाँ, तोड़ो भी"। लड़के ने अपने सम्मुख रखे पात्रों को जमीन पर दे मारा। होमरलेन ने अपने पात्र उसके सामने वढ़ाये और कहा—"और लो"। इनकी भी वही गति हुई। होमरलेन ने समीप के और पात्र भी वढ़ाये और वे भी तोड़ डाले गये, किन्तु इस बार गति कुछ मन्द हो गई थी। और लोग चिल्लाये, "आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ?"—डा० होमरलेन ने कहा, "मैं चाहता हूँ इसका यहाँ मन लगे। यदि पात्र तोड़ने में ही इसकी खुशी है तो यही सही।" इस पर कुछ लोगों ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया और कहने लगे, "ये पात्र आपके नहीं, दूसरे घर के हैं"। डा० होमरलेन ने कहा, "हाँ, इसका तो मुझे दोष है, किन्तु मैं इनको खरीद कर दे दूँगा।" इस पर वह लड़का चिल्लाया, "मैं पात्र थोड़े ही तोड़ रहा था, आपने मुझे उकसाया था, मैं भीरु नहीं हूँ—इस पर अन्य लोगों ने उसे शाबाशी दी और वह विजयी भाव से खड़ा हो गया। डा० होमरलेन ने कहा—"मैं तुम्हें भीरु नहीं कहता, किन्तु निर्भयता का यह अर्थ नहीं है। अच्छा लो मैं तुम्हें अपनी घड़ी देता हूँ, इसे तोड़कर तो दिखाओ।" वह बोला, "ऐसा न कहिये, नहीं तो मैं सचमुच तोड़ दूँगा।" डा०

होमर लेन ने कहा—"तोड़ दो"। उसने बड़े वेग से हाथ ऊपर किया मानो घड़ी को चकनाचूर कर देगा। उसे आशा थी कि डा० होमर लेन तुरन्त आज्ञा देंगे कि बस करो। होमरलेन के ऐसा न कहने पर, वह यकायक रुक गया, उसकी आँखें लजा गईं और उसने चुपचाप घड़ी मेज़ पर रख दी।

अगले दिन यह लड़का होमरलेन से आकर कहने लगा, "मैं बढ़ई होना चाहता हूँ"। होमरलेन ने कहा, "ऐसा क्यों, तुम तो इससे घृणा करते हो?" वह बोला, "नहीं, कल जो मैंने वर्तन तोड़े हैं धन कमाकर उनका दाम चुकाऊँगा।"

आगे ज़ाकर यही लड़का बड़ा कारीगर, न्यायाधीश और तत्पश्चात् एक सुयोग्य सेनापति बना।

चोरी की आदत का निवारण

एक बार डा० होमरलेन एक न्यायालय में उपस्थित थे, एक लड़के का मुक़द्दमा हो रहा था। बचपन से ही उसे चोरी की आदत पड़ गई थी और वह रात को सेंध लगाते हुए कई बार पकड़ा गया। जिस समय मैजिस्ट्रेट ने उसे "पक्का बदमाश" कहा, उसने बड़ी घृणापूर्ण दृष्टि से मैजिस्ट्रेट की ओर देखा। उसकी माँ भी वहाँ उपस्थित थी। बड़ी लाचारी और परेशान कठिनाई से उसे इसके लिए सहमत किया गया कि उसका बच्चा सुधार गृह में भेजा जाय। डा० होमरलेन देख रहे थे कि लड़के की बाह्य कठोरता के नीचे उसका मातृप्रेम और विश्वास टपक रहा है। उसको बताया गया कि वह डा० होमरलेन के अधिकार में रहेगा। उसने बड़ी घृणापूर्वक होमर-लेन महाशय की ओर देखा। होमरलेन ने भी निश्चय किया कि

वे प्रारम्भ से ही उसके अन्दर प्रेम और आत्म-नियन्त्रण की भावना जगायेंगे। जब वह अपनी माँ के साथ अकेला रह गया तो होमरलेन उसके पास गये और बोले, "देखो आज तुम माँ को लेकर घर जाओ, कल या तो प्रातः ९ बजे की अथवा १२ की गाड़ी से आ जाना। दोपहर को मुझे एक काम से स्टेशन जाना है, यदि उस गाड़ी से आओगे तो मेरे साथ चल सकते हो। यह तुम्हारे किराये के लिए एक शिलिंग है"। इतना कहकर उसके हाथ पर शिलिंग रख, डा० होमरलेन तुरन्त दरवाजे की ओर मुड़ पड़े। लड़का आवाक् था। उसे यह ध्यान था कि उसको जबरदस्ती वहाँ से ले जाया जायेगा। दरवाज़े तक पहुँचते डाक्टर साहब ने माँ से कहते हुए उसके बड़े प्यार भरे यह शब्द सुने—"चलो माँ"। अगले दिन यथा समय वह गाड़ी से आ गया। होमरलेन ने मुस्कराकर उसका स्वागत किया। उसने जेब से निकालकर टिकिट से बचे हुए पैसे डा० साहब को दिये। उन्होंने पैसे सावधानी से गिनकर—"ठीक है" कहते हुए ले लिया।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि बालकों की छोटी सी बात में भी बड़ों को लापरवाही नहीं दिखानी चाहिये। डा० होमरलेन ने उससे कभी यह नहीं कहा कि मैं तुम्हारा विश्वास करता हूँ, क्योंकि इन शब्दों से ही अविश्वास टपकता है। यदि हम बच्चे के अन्दर प्रेम और आत्म-सम्मान के भाव को जगा सके, तो हमने उसका पूरा सुधार कर दिया।

हतोत्साह का निवारण

एक बार एक विद्यार्थी डा० होमरलेन को मिला जो अन्य सभी कार्यों में निपुण था, किन्तु गणित का नाम सुनते

ही हतोत्साह हो जाता था। अनेक उपाय किये गये, किन्तु सब निष्फल। एक बार डा० साहब ने देखा कि उसने एक पहेली, जिसमें उसकी शिक्षिका को भी कठिनाई हो रही थी, सुझा दी। इससे डा० साहब के बिचारों ने पलटा खाया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यद्यपि यह बुद्धिमान् लड़का है, किन्तु इस प्रकार निराश हो चुका है कि गणित शब्द का नाम सुनते ही उसके हृदय में यह धारणा हो जाती है कि वह प्रश्न नहीं कर सकेगा। निदान, उन्होंने उसकी शिक्षिका से मिलकर उसके सुधार के लिए निम्न उपाय रचा।

लड़का एक प्रश्न को हल करने के लिए उनके पास भेजा गया। बड़े प्रसन्न भाव से वह डा० साहब के पास दौड़ा आया। उसे देखकर डा० साहब ने डाँटा—इस प्रकार गन्दे ढंग से मेरे पास आने की जरूरत नहीं। बाहर जाओ, हाथ मुँह धोकर आना। वह निराश होकर बाहर गया। और फिर आज्ञा लेकर अन्दर आया।

डा० साहब ने गम्भीरता से कहा—क्या है?

वह उदास होकर बोला, "मु-मुझे उस-उसने भेजा है यह—स-वाल"।

"किसने भेजा है?'—डाक्टर ने फिर रूखे स्वर से पूछा।

"मास्टरजी ने"।

"अपने बड़ों के लिए इस प्रकार बोला जाता है?"

उसने सर नीचा कर लिया।

"तो क्या चाहते हो?"

वह चुप खड़ा रहा।

डाक्टर होमरलेन ने कहा—"तुम बड़े मूर्ख हो, देखूँ क्या निकालना है। मैं तोतुमसे तङ्ग आ गया।"

लड़के ने एक कागज डाक्टर साहब को थमा दिया—उसका माथा पसीने से तर था।

डाक्टर होमरलेन ने कहा—"तो तुम यह कहने आये हो कि यह जरा सा सवाल भी तुम नहीं निकाल सकते? बड़े शर्म की बात है—तुम जितने बड़े को तो इसे ज़बानी निकाल देना चाहिये था। इस समय तो मैं इसे किये देता हूँ, पर बाद में कभी इस प्रकार मेरे पास दौड़ने की ज़रूरत नहीं, समझे?"

लड़के की समझ में कुछ भी न आ रहा था।

फिर डाक्टर होमरलेन ने कहा—"अच्छा देखो, मैं इसे ज़बानी करता हूँ"। डाक्टर साहब ने ज़बानी गुणा-भाग करना प्रारम्भ किया और वे उसमें जानकर गलती करने लगे। लड़का कुछ सतर्क हुआ। उसने गलती पकड़नी आरम्भ की।

डा० होमरलेन बोले, "अच्छा देखो, गणित के प्रश्न में ग़लती न होनी चाहिये, लाओ काग़ज़ पर करते चलें"। डाक्टर साहब ने ग़लतिया करनी फिर प्रारम्भ की। लड़के के हृदय में उत्साह और आशा की नींव पड़ी। उसे यह देख कर प्रसन्नता हो रही थी कि डाक्टर साहब भी जल्दी उस सवाल को नहीं निकाल पा रहे हैं। और वह उन्हें सुधारने की क्षमता रखता है। अन्त में डाक्टर साहब ने झल्लाकर कहा, "मुझे इस समय ज़रूरी काम से जाना है। तुम इसे निकालो इस तरह मेरे काम में बाधा न डाला करो।" लड़का समझ गया कि डाक्टर साहब के भागने का असली कारण क्या था। अर्थात् डाक्टर साहब की सवाल हल करने की असमर्थता ही कारण थी। जब वे कमरे से बाहर जाने लगे

तब उसने एक तिरछी नज़र से मुस्कराकर डाक्टर साहब को देखा।

अगले दिन इसी लड़के का मुक़दमा न्यायालय में हुआ। अपराध यह था कि वह ११॥ बजे रात को दीपक जलाकर बैठा था। जब उससे पूछा गया—"क्या कर रहे थे?" तो उत्तर मिला, "गणित का एक प्रश्न"।

उपर्युक्त उदाहरण में बालक की गणित के प्रति घृणा तथा हतोत्साह की मानसिक ग्रन्थि के निराकरण के लिए ही डाक्टर होमरलेन ने एक साधारण शिक्षक जैसा बालक के साथ का व्यवहार किया। डाक्टर साहब स्वयं बड़े प्रेम से सभी बालकों से मिलते थे, अतएव वह बालक उनके पास दौड़ा आया। पर उसने उन्हें नम्र की जगह कठोर पाया। इस समय उन्हें शिक्षक बनकर बालक की मानसिक ग्रन्थि खोलनी थी। जब डाक्टर होमरलेन ने अपनी कमजोरी बालक के समक्ष प्रदर्शित की, तो वास्तव में इस प्रकार का प्रदर्शन उसके अचेतन मन के समक्ष शिक्षकगण मात्र की कमजोरी प्रदर्शन करना था। पुराने शिक्षक के दुर्व्यवहार के कारण बालक का आत्म-विश्वास जाता रहा था। इस आत्म विश्वास को लाने के लिए बालक के समक्ष शिक्षकों की कमजोरियों को प्रदर्शित करना आवश्यक हो गया। जब बालक को विश्वास हो गया कि शिक्षक भी ऐसी भूलें कर सकता है, जिन्हें वह पकड़ ले, और कभी कभी शिक्षक स्वयं भी प्रश्नों को हल करने में असमर्थ रहता है और बहाना करके प्रश्न करना छोड़ देता है तो उसे अपने प्रति आत्म-विश्वास हो गया।

वह अब गणित में इतना लग गया कि प्रजातंन्त्र के काम करने के नियम को भूल गया। वास्तव में वह अपने आपको

अपने शिक्षक से अधिक योग्य सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा था।

इसके अतिरिक्त बालकों के दो और उदाहरण भी उल्लेखनीय हैं। एक धनी परिवार की सात वर्ष की कन्या से उसके माता पिता इसलिए तङ्ग थे कि वह सदा आग से खेलने को आतुर रहती थी। जब किसी प्रकार उसे वे ठीक न कर पाये तो डा० होमरलेन को बुलाया गया। डाक्टर होमरलेन ने उसके लिए एक ऐसी पोशाक बनवाई जो अग्नि से न जले। उसे दिया सलाई के बक्स देकर दिन भर खेलने की छुट्टी दे दी गई। परिणाम यह हुआ कि कुछ देर खेलने के बाद वह आग की बात भूल ही गई और उसका ध्यान अन्य खिलौनों में लग गया।
इसी प्रकार एक छः वर्ष का बालक अग्नि से खेलने के लिए जी जान से उतारू था। जब उसे डाक्टर होमरलेन के पास लाया गया तो उन्होंने उसे लेकर अंगीठी के पास बैठा दिया। अकस्मात् एक कोयला बाहर गिरा। डाक्टर साहब ने लपककर उसे उठाया और छूने पर चिल्लाये। वह भी लपका पर सावधानी के साथ। छूते ही उसे वास्तविकता के दर्शन हुए और छः वर्ष की उत्सुकता का क्षण भर में अन्त हो गया।

हर एक बच्चे के साथ यह विधि नहीं लगाई जा सकती। जो बालक विशेष आतुर हों, उन्हीं के लिए ऐसे विधान काम में लाने चाहिये।

बारहवाँ प्रकरण

बालक का हठ

प्रत्येक बालक चाहता है कि हम उसकी ओर ध्यान दें। जितना ही अधिक हम बालक को लाड़-प्यार करते हैं, उसमें दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की मनोवृत्ति उतनी ही बढ़ जाती है। इस तरह वह दूसरों के हृदय पर अपनी प्रभुता जमाने की चेष्टा करता है। जब कुछ काल तक बालक लाड़-प्यार में पाला जाता है और पीछे उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, तो वह उपद्रव करने लगता है। कलम तोड़ना, पुस्तक फाड़ना तथा स्याही लुढ़काना आदि काम में वह लग जाता है। इस तरह वह बरबस अपने अभिभावकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है। कभी कभी माता-पिता बालक को उपद्रव करने के लिए डाँट-फटकार देते व पीट देते हैं। इससे बालक अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ता, वरन् उसकी दुराग्रह की प्रवृत्ति और भी दृढ़ हो जाती है। अब वह या तो और भी उत्पात मचाने लगता है, अथवा बीमार पड़ जाता है। दोनों तरह से वह माता-पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है।* राबर्ट

---

* "In Neurotically disposed children of the same family we, at times, see one striving for domination in the family by defiance, an other by submissiveness. A five year old boy suffered from the habit of frequently

क्लैव माता पिता से पीटे जाने पर और भी अत्याचारी बन गया। सामान्य बालक बीमार पड़कर माता पिता के विचार अपने ऊपर केन्द्रित कर लेता है।

दुराग्रह और ईर्षा

दुराग्रह की प्रवृत्ति सबसे बड़े बच्चे में उस समय देखी जाती है जब कि माता पिता का प्रेम उससे छोटे बच्चे पर जाने लगता है। यदि यह बड़ा बच्चा लड़की हुई और छोटा लड़का, तो मानसिक स्थिति और भी जटिल हो जाती है। माता-पिता साधारतः लड़के को लड़की से अधिक प्यार करते हैं; फिर छोटा होने के कारण इस बच्चे पर अधिक प्यार स्वभावतः होता है। इस तरह लड़की, लड़के से ईर्षा करने लगती है। वह बात बात में अपने छोटे भाई से झगड़ा करती है। लेखक की लड़की जो सात वर्ष की है उसके पिता के साथ भोजन करने के लिये इसलिये आग्रह करती है कि उसका छोटा भाई पिताके साथ भोजन करता है। जो चीज़ लड़के के लिए खरीदी जाती है वही लड़की के लिए भी खरीदनी पड़ती है।

---

throwing every thing he could lay hands on out of the window. After he had been thoroughly punished, he took ill, possessed of a *fear* that he might again throw something out of the window. By the utilization of these symptoms, he succeeded in chaining his parents to his side and in becoming their master."—Adler—*Individual Psychology*, P. 61.

५ और रोग

यदि बड़े बच्चे को छोटे बच्चे के पैदा होने पर पहले जैसा प्यार नहीं किया जाता, तो वह किसी न किसी प्रकार अपने आपको माता-पिता की चिंता का कारण बना लेता है। जितना ही उसका अधिक तिरस्कार होता है उसकी मानसिक जटिलता उतनी ही अधिक होती है। इस सम्बन्ध में डाक्टर एडलर का दिया हुआ एक दृष्टांत उल्लेखनीय है—

मेरी चिकित्सा में आया हुआ एक बालक अपने छोटे भाई के जन्म के पूर्व बड़ा लाड़ला था। छोटे भाई के पैदा होने पर माता पिता के लाड़ की कमी हो गई। इस पर वह अत्याधिक सुस्त हो गया और उसे खाने की अनिच्छा हो गई। वह इस तरह दुबला पतला होने लगा। अब वह फिर माता-पिता के विचारों का मुख्य केन्द्र हो गया। इस तरह उसने अपने छोटे भाई को माता पिता के मन में प्रभुता न जमाने दी, और उसने खोई हुई प्रभुता फिर जमा ली। जब उसका यह लक्ष्य सध गया तो फिर वह बहुत भला और परिश्रमी लड़का बन गया। इस तरह माता पिता के विचार उसी पर केन्द्रित रहने लगे। पर इस प्रकार सदा माता पिता के हृदय पर अधिकार जमाए रखने के लिये वह सामर्थ्य से भी अधिक काम करता था। जो विचार उसके मन में आ जाता था उसे लेकर वह लगा ही रहता था। उसका छोटा भाई माता-पिता पर अपना अधिकार साधारणतः भले व्यवहार से उतना ही जमा सका जितना कि उसके बड़े भाई ने अत्यधिक प्रयत्न से जमाया*।

---

* एडलर महाशय का दिया हुआ एक और उदाहरण उल्लेखनीय है—

लड़कियाँ देखती हैं कि उनकी लड़कों की अपेक्षा कम इज्जत होती है, अतएव वे एक ओर हठी हो जाती हैं और दूसरी ओर लड़के जैसे बनने की चेष्टा करती हैं।* कभी-कभी

आठ वर्ष का एक लड़का अपनी छोटी बहिन से इसलिए बड़ी ईर्षा करता था कि माता पिता उसे ही प्यार करते थे और लड़के के प्रति ध्यान नहीं देते थे। लड़का अपनी बहिन से अपने को योग्य सिद्ध करने की चेष्टा करता था, पर उसकी आँखें कमजोर होने के कारण इसमें असफल हो जाता था। इस पर उसे कुपच की बीमारी होने लगी। उसका पिता उसे कभी कभी शिकार के लिये ले जाता था। पर जिस रोज उसे शिकार को नहीं ले जाता था उस रोज लड़का बीमार हो जाता था। इस प्रकार वह अपने पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता था। एक रोज जब उसका पिता उसे छोड़कर शिकार खेलने चला गया, उसे स्वप्न हुआ कि पिता मर गया है। इस घटना से स्पष्ट है कि पिता के उसे छोड़ जाने से अथवा उसकी बहिन को प्यार करने से वह असंतुष्ट था। उससे जब एडलर महाशय ने पूछा कि तुम शादी करोगे कि नहीं, उसने कहा कि मैं शादी नहीं करूँगा क्योंकि औरतें बुरी होती हैं।

* एडलर का निम्नलिखित दृष्टांत यहाँ उल्लेखनीय है—

एक लड़की को भूख न लगने, कुपच आदि की बीमारी थी। वह साथ साथ हठी भी थी। एक दिन जब उसकी मां उससे चाय पीने के लिये आग्रह कर रही थी तो उसे अपने आपसे यह कहते सुना—"यदि वह कहेगी दूध पी लो तो मैं काफी पीऊँगी, और यदि वह कहे काफी तो मैं दूध पीऊँगी"। उसकी बातों से अकसर पुरुष बनने की इच्छा प्रकाशित होती थी। एक दिन जब वह शीशे के सामने खड़ी थी अपनी मां से पूछने लगी, "क्या तुम भी पुरुष बनने की हरदम इच्छा करती थीं"?

यह मनोवृत्ति सयानी होने तक लड़कियों में बनी रहती है, तब वे शादी नहीं करना चाहतीं। घर की लाड़ली लड़की को सुसराल में सुख से रहना कठिन हो जाता है। कितनी ऐसी लड़कियाँ हैं जो लिंगभेद के कारण तिरस्कृत होती हैं, और इसलिये पुरुष मात्र से घृणा करने लगती हैं।† वे स्त्रियों को ही प्रेम करती हैं। वे पुरुषों को सब तरह अपने से नीचा

---

† लेखक एक ऐसी महिला को जानता है जो पुरुष मात्र को अत्याचारी मानती है। वह किसी पुरुष के नियन्त्रण में नहीं रहना चाहती, वरन् जहाँ वह रहती है पुरुषों को अपने नियन्त्रण में रखना चाहती है। जब उसकी इस इच्छा की पूर्ति नहीं होती, तब वह बीमार हो जाती है। वह विवाह होने पर पति के घर नहीं रहना चाहती थी। अतएव विवाह के होते ही उसे बहुत सी कल्पित बीमारियों ने आ घेरा। जब उसका पति से संबंध छूट गया तब वह स्वस्थ हो गई।

यह लड़की परिवार की सबसे बड़ी लड़की है। वह पहले पहल बड़ी लाड़ली थी। पीछे दूसरी सन्तान के पैदा होने पर उसके प्रति लाड़ में कमी हुई। तभी से वह उदण्ड हो गई थी। बुद्धि अच्छी होते हुए भी वह इमतहान में फेल हो जाती थी, यहाँ तक कि उसकी छोटी बहिन पढ़ाई में उससे आगे बढ़ गई। ऐसा होने पर इस लड़की की उदण्डता और भी बढ़ गई। माता पिता का विचार था कि शादी होने से वह ठीक हो जायगी। पर शादी होने पर नियंत्रित न रहकर उसने अपने आपको स्वतंत्र बनाने का लक्ष्य बना लिया। अन्त में वह अपने इस लक्ष्य प्राप्ति में सफल हुई।

स्त्रियों को अपनी स्थिति से कैसे सन्तुष्ट रहना सिखावें यह शिक्षा की एक मुख्य समस्या है। उनका लिङ्ग भेद तो मिटाना सम्भव नहीं, और जब तक लिंग भेद है वे पुरुषों की बराबरी भी नहीं कर सकतीं।

सिद्ध करने की चेष्टा करती हैं। वे अपना जीवन का लक्ष्य ही स्त्रियों के अधिकार के लिए लड़ना बना लेती हैं। भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने पर स्त्रियों का सुखपूर्वक विवाहित जीवन व्यतीत करना दिन-प्रति-दिन कठिन होता जा रहा है।

जिस तरह बालक माता-पिता पर अपनी प्रभुता जमाने के लिए बीमारी का आसरा लेते हैं, इसी तरह स्त्रियाँ भी पतिपर अपनी प्रभुता जमाने के लिए बीमारी का सहारा लेती हैं। कितनी ही स्त्रियाँ हिस्टीरिया, दमा आदि रोगों को इस लिए पकड़े रहती हैं कि उनके पति को उनके विषय में चिन्ता हो। हिस्ट्रिरिया के रोगी के प्रति सहानुभूति दिखाकर अथवा उसकी बीमारी के विषय में अपनी चिन्ता उसे जना कर उसका रोग हम और भी बढ़ा देते हैं; क्योंकि इस रोग का हेतु ही दूसरों की चिन्ता बढ़ाना और दूसरों के विचार अपने ऊपर केन्द्रित करना है।

अत्यधिक नियंत्रण के कुपरिणाम

अत्यधिक नियन्त्रण भी बालकों में दोष-दृष्टि (दूसरों की निन्दा करने की प्रवृत्ति) के बढ़ाने का कारण होता है। जो व्यक्ति बालकों को अत्यधिक नियन्त्रण में रखना चाहता है, वह बालकों के प्रत्येक नियम तोड़ने पर उन्हें दण्ड देता है। सम्भव है कि ऐसा दण्ड देने का कार्य सद्बुद्धि से ही प्रेरित हो और दण्ड देने वाले व्यक्ति के मन में दण्ड दिए जाने वाले बालक के सुधार की ही भावना हो। पर इस बात को जब बालक स्वयं नहीं समझता कि उसका अभिभावक व शिक्षक उसके कल्याण

के लिए दण्ड देता है तब उस दण्ड से उस बालक का कोई लाभ नहीं होता, वरन् इसके प्रतिकूल उसे भारी हानि होती है। दण्ड पाने वाले बालक को प्रत्येक दण्ड के लिए यह सोचना कि वह सद्बुद्धि से ही दिया जा रहा है, असम्भव है। दण्ड पाना दुःखदायी होता है और प्रत्येक दुःख देने वाले व्यक्ति को बालक घृणा की दृष्टि से देखता है। ऐसे व्यक्ति में वह अनेक दोष देखने लगता है। यह दोष देखने की प्रवृत्ति जब बालक में दृढ़ हो जाती है, तो वह प्रौढावस्था तक जारी रहती है। जो बालक माता, पिता और शिक्षकों द्वारा अधिक ताड़े जाते हैं वे दूसरे लोगों का बड़प्पन सहने के लिए तैयार नहीं रहते हैं।

कितने ही बालकों का पिता के प्रति सदा के लिए घृणा का भाव हो जाता है। पिता उन्हें प्रत्येक काम बिगाड़ने के लिए डाँटते-डपटते और मारते-पीटते रहते हैं, इसलिए पिता के प्रति घृणा की भावना-ग्रन्थि अनेक प्रकार के दुराचारों में प्रगट होती है। जो भी व्यक्ति बालक पर रोब दिखाना चाहता हैं, वह उसकी घृणा का पात्र बन जाता है।

जब तक दण्ड इस दृष्टि से नहीं दिया जाता कि बालक के मन पर इसका क्या परिणाम होगा, दण्ड देना बालक को लाभ न पहुँचाकर हानि पहुँचाता है। वही दण्ड बालक के लिए हितकारी होता है, जिसमें प्रतिकार की दृष्टि का अभाव होता है तथा जो स्वभावतः दोष के फलस्वरूप मिलता है।

तेरहवाँ प्रकरण

विमाता की मानसिक ग्रन्थि

चित्त-विश्लेषण-विज्ञान में बालक के मन पर विमाता के बर्ताव से पड़नेवाले अवाञ्छनीय प्रभाव के सम्बन्ध में विशेष खोज की गयी है। डा० फ्रायड ने सिद्ध किया है कि विमाता का होना ही बालक के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। बालक पति-पत्नी के प्रेम का प्रतीक है ; वह माता और पिता के प्रेम को स्थायी बनाता है। पति-पत्नी में से किसी एक के न होने पर बालक प्रेमाश्रय के अभाव की पूर्ति करता है, अर्थात् वह स्वयं ही प्रेमाश्रय बन जाता है।

पति के न रहने पर बालक को देखकर ही पत्नी जीवित रहने की इच्छा करती है। यदि पति-पत्नी में सच्चा प्रेम है और उनमें से कोई एक मर जाता है तो दूसरा भी जीने की इच्छा नहीं करता, किन्तु बालक की उपस्थिति इस मरने की इच्छा का निराकरण करती है। मनुष्य के अव्यक्त मन में स्थित अमरत्व की चाह की पूर्ति सन्तान से होती है। सौतेली माँ का हृदय यह नहीं चाहता कि उसके पति के प्रेम का आश्रय उसके बालक के अतिरिक्त कोई दूसरा बने। अपनी सौत के प्रेमस्मारक को वह नष्ट करना चाहती है। जो स्त्री सदाचारिणी होती है वह अपनी सौत के पुत्र के साथ शिष्ट व्यवहार करती है, किन्तु उसे प्यार करना असम्भव है। यह कैकेयी और रामचन्द्रजी के सम्बन्ध से स्पष्ट है। इस तरह हम देखते हैं कि

विमाता की उपस्थिति बालक के व्यक्तित्व के सुगठित होने में बाधक होती है तथा अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक क्लेशों का कारण बन जाती है।

विमाता की ईर्षा

विमाता किसी-न-किसी प्रकार बालक के प्रति पिता के मन में घृणा उत्पन्न करने की चेष्टा करती रहती है। वह पति से बालक की अनेक प्रकार की शिकायतें किया करती है। उसकी कई शिकायतें निराधार होती हैं। इन शिकायतों के कारण बालक के मन में विमाता के प्रति बैर-भाव पैदा हो जाता है जो एक भावनाग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। शिष्ट बालक विमाता के प्रति अनेक प्रकार का सम्मान प्रदर्शित करता है किन्तु इस प्रकार का उसका सम्मान-प्रदर्शन उसके चेतन मन का कार्य होता है, उसका हृदय विमाता का सम्मान करना कदापि नहीं चाहता। इस तरह उसके जीवन में अनेक प्रकार के सङ्घर्ष उत्पन्न होते हैं जिनके परिणाम-स्वरूप बालक के मन में संसार के प्रति उदासीनता पैदा हो जाती है। वह घर में रहने की अपेक्षा बाहर रहना ही अधिक पसन्द करता है। सौतेली माँ की उपस्थिति के कारण ही रामचन्द्रजी का वैराग्य-भाव १७ साल की अवस्था में ही उत्पन्न हो गया था। उन्हें तीर्थ-यात्रा में विशेष रुचि थी। विवाह के पूर्व सात वर्ष उन्होंने दण्डक वन में विश्वामित्र आदि ऋषियों के पास बिताए और विवाह के पश्चात् भी वे १४ साल तक वनवास में रहे। यह उनकी हार्दिक इच्छा के अनुसार ही हुआ था। लड़के का पिता चाहे उसे कितना भी प्यार करे, उसका हृदय असन्तुष्ट ही रहता है। वह ऐसे व्यक्ति

को प्यार नहीं करना चाहता जिसने उसकी माता के प्रेम का सम्मान न किया हो।

विमाता के प्रभाव के कुपरिणाम

जिस बालक के सौतेली माँ होती है वह छात्र-जीवन में घर छोड़कर छात्रावास में रहना पसन्द करता है। जब तक वह घर में रहता है निरुत्साह और तेजहीन रहता है। ऐसा बालक अनेक प्रकार के दुराचरण में भी पड़ जाता है। झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना, तम्बाकू और मादक वस्तुओं का सेवन करना आदि बुरी आदतें ऐसे बालक को पड़ जाती हैं। जो बालक स्वजनों के प्रेम से वञ्चित रह जाता है वह या तो निराशावादी होता है या उद्दण्ड।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक शक्तियों का विकास उसके हृदय के प्रेम-स्फुरण से ही होता है। जब बालक माता-पिता के प्रेम से वञ्चित रहता है तब उसका हृदय प्रफुल्लित नहीं होता और उसकी मानसिक शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। जब ऐसे बालक को अपने बाहरी सङ्गी-साथियों के कारण प्रेमानुभूति होती है तब वह ऐसा आचरण करता है जिससे उसके साथी उससे सहानुभूति रखें और उससे अप्रसन्न न हों। बालक की प्रेम-प्राप्ति की इच्छा जब दबायी जाती है तब वह अपनी तृप्ति के लिए एक विकृत मार्ग ग्रहण कर लेती है। प्रेम-प्राप्ति की इच्छा दबायी जाने पर दण्ड पाने की इच्छा के रूप में परिणत हो जाती है। सुशील बालक अपनी सुशीलता के कारण माता-पिता का कृपापात्र बनता है, उसी तरह उद्दण्ड बालक अपनी उद्दण्डता के कारण अपने सम्मानित लोगों के दण्ड का भागी होता है। कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि वह

अज्ञात रूप से अपना जीवन व्यतीत करे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रकाशन चाहता है। जब किसी व्यक्ति की शक्ति उचित मार्ग से प्रकाशित नहीं हो पाती तो अनुचित मार्ग से प्रकाशित होती है।

एक चतुर्दशवर्षीय छात्र को सिगरेट पीने की आदत थी। वह अपने माता-पिता से चुराकर सिगरेट पीता था। सिगरेट के लिए भी उसे कभी-कभी पैसों की चोरी करनी पड़ती थी। उसके पिता ने उसकी सिगरेट पीने की आदत छुड़ाने के लिए उसे कई बार खूब पीटा किन्तु उसकी यह आदत छुड़ाने में वह समर्थ न हुआ। इसे छिपाने के लिए बालक को कभी-कभी झूठ भी बोलना पड़ता था। इस लड़के के बड़े भाई में ऐसी कोई आदत न थी। वह साधारण व्यक्ति जैसा था। बड़ा भाई उत्साही था और छोटा निरुत्साही। लेखक ने इस प्रकार के चरित्र की विषमता जानने की चेष्टा की। दोनों बालकों के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उन दोनों भाइयों में बड़े की माँ जीवित थी और छोटे की मर चुकी थी। छोटे भाई का पालन-पोषण बड़े भाई की माँ ने ही किया था। एक बार जब उसकी माँ आयी थी तब छोटा भाई अधिक समय घर के बाहर ही व्यतीत करता था। पिता छोटे भाई को आज्ञाकारी पुत्र बनाना चाहता था। पिता की इस इच्छा ने कठोरता का रूप धारण कर लिया। किन्तु इस कठोरता से बालक के चरित्र में सुधार न होकर और बहुत सी बुराइयाँ आ गयीं। बालक का सिगरेट पीना पिता की कठोरता के प्रतिकार-स्वरूप था।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मनुष्य सिगरेट इसीलिए नहीं पीता कि सिगरेट पीने में विशेष प्रकार का आनन्द

ाता है। पहले पहल सिगरेट पीने में बालक को हिचकिचाहट ाती है। उसका धुआँ भी बुरा लगता है। यह आदत पहले-पहल नुकरण से आती है, किन्तु सिगरेट की आदत इसलिए जम ाती है कि उससे एक तो बालक की बड़ा वनने की इच्छा री होती है; दूसरे वह कुछ सीमातक अपनी मानसिक ान्ति को भूल जाता है। जो मनुष्य मानसिक दुःख में जितना ी रहता है वह नशीली चीजों के सेवन में उतना ही अधिक गता है। जिस बालक के सौतेली माँ होती है उसके मन में ानेक प्रकार के कुविचार और कल्पनाएँ उठा करती हैं। न विचारों को भुलाने के लिए नशीली चीजों का सेवन ावश्यक हो जाता है।

विमाताके प्रभावसे उत्पन्न ग्रन्थियाँ

सौतेली माँ द्वारा पाले गये बच्चे में आत्म-हीनता की मान- सेक-ग्रन्थि होती है। इस ग्रन्थि के प्रतिकार स्वरूप बालक अपने ापको अपनी कल्पित सृष्टि में श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करता है। म्बाकू पीना, अपने आपको बड़ा और स्वतन्त्र सिद्ध करना है। ाह बड़प्पन वास्तविक बड़प्पन नहीं, वरन् साङ्केतिक बड़प्पन ै। सिगरेट पीते समय बालक का अदृश्य मन बड़े होने का झूठा आत्मसन्तोष प्राप्त करता है। झूठ बोलना अपने आपको वेलक्षण ठहराने के लिए ऐसे ही होता है, जैसे किसी स्वार्थ की सेद्धि के लिए। जब बालक झूठ बोलकर अपने माता पिता को ग्रोखा देने में समर्थ होता है तब उसे भारी आत्मसन्तोष होता है।

सौतेली माँ का वालक आन्त्रिक मन से कभी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिससे उसके अभिभावक प्रसन्न हों। उसके

दुश्चरित्र होने का प्रधान कारण यही होता है। उसकी चेष्टाओं से उसका पिता उसके विषय में चिन्तित होता है। पिता को चिन्तित करने से ही बालक को आत्मसन्तोष होता है। पिता की उदासीनता बालक को उसके कठोर व्यवहार से भी अधिक असह्य होती है। वह व्यभिचारी भी इसीलिए होता है कि वह अपने दुःखद जीवन को भूल जाय। जिस मनुष्य के हृदय में जितनी अशान्ति होती है उतना ही वह व्यभिचार की ओर प्रवृत्त होता है। व्यभिचार के कारण मन की अशान्ति और बढ़ जाती है क्योंकि व्यभिचार करने पर व्यक्ति को आत्म-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इस यन्त्रणा को भूलने के लिये नशीली वस्तुओं का सेवन किया जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि सौतेली माँ का घर में होना बालक के मानसिक और आध्यात्मिक ह्रास का एक प्रधान कारण होता है।

जिस बालक के सौतेली माँ है उसका घर से बाहर रहना ही अच्छा है। जब ऐसा बालक घर के बाहर रहता है तब वह समाजसेवी और परोपकारी बनता है। ऐसा बालक अपने शिक्षक और अपने सहपाठियों को घर के लोगों की अपेक्षा अधिक प्यार करता है। शिक्षक और सहपाठी ही उसके चरित्र में सुधार कर सकते हैं। ऐसे बालक को कठोर नियन्त्रण में रखकर सदुपदेश देना व्यर्थ होता है। मनुष्य के चरित्र का सुधार सहृदय मनुष्य ही कर सकता है। सहानुभूति के बिना किसी व्यक्ति में सुधार करना असम्भव है।

चौदहवाँ प्रकरण

बालकों का भय

भयों के प्रकार

मनुष्य के भय दो प्रकार के होते हैं—एक जन्मजात और दूसरे अर्जित। जन्मजात भयों की संख्या बहुत कम होती है, उदाहरणार्थ गिरने से डरना, जोर की आवाज से डरना, अपरिचित् पदार्थ से डरना। मनुष्य के अधिक भय अर्जित होते हैं। जब किसी पदार्थ का सम्बन्ध किसी भयकारी पदार्थ से हो जाता है तो बालक पहले पदार्थ से भी डरने लगता है। डाक्टर वाट्सन ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया है कि बालक किसी निर्दोष पदार्थ से भी इसलिये डरने लगता है कि उसका सम्बन्ध किसी भयावने पदार्थ से हो गया है।

भयों की उत्पत्ति

नवीन मनोविज्ञान ने भय की उत्पत्ति पर नया प्रकाश डाला है। जिस व्यक्ति में जितनी विचार की कमी होती हैं उसके जीवन में भय की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। विचार के विकास के साथ साथ भय की कमी हो जाती है। बालक का जीवन संवेगात्मक होता है, अतएव उसके जीवन में भय का भी प्राबल्य होता है। बालक के अधिक भयों का कारण प्रौढ़ लोगों से मिले भय के निर्देश होते हैं। जब कोई दाई

अपनी भयभीत अवस्था में बालक से कोई बात कहती है तो बालक भी भयभीत हो जाता है। बालक को जन्म से साँप का डर नहीं रहता, किन्तु जब दाई डरकर बालक को साँप दिखाती है तो वह साँप से डरने लगता है। जिन वस्तुओं से बालक बड़ों को डरते देखता है उन वस्तुओं से बालक अपने आप भी डरने लगता है।

बालक के मन में डर उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि डर का भाव वास्तव में प्रौढ़ व्यक्ति के मन में हो। यदि हम ऊपर से ही डर का भाव बना कर बालक से कोई बात कहें, बालक के मन में डर उत्पन्न हो आवेगा। जब दाइयाँ बालकों से डर का अभिनय करते हुए कोई कहानी कहती हैं, तो बालक कथित घटनाओं से डरने लगता है। बालक के मन में हम निर्देशों द्वारा जैसे जैसे भाव उत्पन्न करना चाहते हैं, उसके मन में वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

कितने ही बालकों को हम स्वभाव से डरपोंक और कितनों को साहसी देखते हैं। डरपोक बालक प्रायः जीवन भर डरपोक ही रहता है। वह सदा अपने प्राण रक्षा की चेष्टा में लगा रहता है। डरपोक व्यक्ति संसार का कोई उपकार नहीं कर सकता। किसी भी बड़े काम करने के लिए मनुष्य को साहस की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति में साहस नहीं वह किसी भी प्रकार की बुराई का विरोध नहीं कर पाता। वह निराशावादी होता है। किसी भी नवीन घटना के बुरे पहलू पर ही उसका ध्यान जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बालकों का जीवन प्रौढ़-व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक संवेगात्मक होता है, अतएव उसके भय अधिक प्रबल होते हैं। जिस व्यक्ति में जितनी कम

विचार करने की शक्ति होती है उसके भय उतने ही अधिक होते हैं। बालकों में विचार करने की शक्ति की न्यूनता के कारण उनका मन भय की बातों से शीघ्र ही उद्विग्न हो जाता है। अतएव बालकों को भय उत्पन्न करनेवाली बातें जितनी कम कही जायँ उतना ही भला है। जो मातायें बालकों को रोने से रोकने के लिये अनेक प्रकार से डरवातीं हैं वे उनका बड़ा अनर्थ करती हैं। बालक डर के कारण रोना बन्द कर देता है, पर वह जीवन भर के लिये डरपोक बन जाता है। उसमें किसी नयी परिस्थिति का सामना करने की हिम्मत नहीं रहती।

बालकों में निर्देश ग्रहण करने की शक्ति भी प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव जब वे किसी व्यक्ति को भयभीत अवस्था में देखते हैं तो स्वयं भयभीत हो जाते हैं। यदि कोई भय का विचार उनके मन में पैदा किया जाय तो वह बड़ी दृढ़ता के साथ उनके मन में बैठ जाता है। इस प्रकार बालकों के जीवन में अनेक प्रकार के भयों की वृद्धि हो जाती है।

हम देखते हैं कि संसार के लोगों को प्राण-घातक अनेक जीवों से भय होता है। पर इनके अतिरिक्त वे भूत प्रेत तथा देवी देवताओं से भी डरा करते हैं। कितने अशिक्षित व्यक्ति अपना सारा जीवन भूत प्रेत और देवी देवताओं को प्रसन्न करने में ही व्यतीत करते हैं। उनके मन में सदा यह डर बना रहता है कि यदि अमुक देवता को अमुक बलिदान न दिया जाय अथवा उसकी पूजा ठीक से न की जाय तो उसे अमुक रोग हो जायगा। अपने आत्म निर्देश के कारण वे उन रोगों तथा आपत्तियों को भी भोगा करते हैं जिनकी वे

भावना करते हैं। अशिक्षित लोगों की भय की मनोवृत्ति से ठग लोग लाभ उठाते हैं। पण्डे लोग मूढ़ जनता की भय की मनोवृत्ति से कितना लाभ उठाते हैं यह सर्व विदित है।

हाल की बात है कि मेरी एक छात्रा शीतला देवी के मन्दिर में देवी की पूजा के लिए गई। उसने कुछ पूजा बड़ी माता को चढ़ाई। पण्डे ने इस छात्रा को धनी जान कर छोटी माता को कुछ चढ़ोत्री देने को कहा। छात्रा इससे क्रुद्ध हो गई और छोटी माता की तरफ उसने एक दुअन्नी फेंक दी। पीछे उसे छोटी माता के नाराज हो जाने का भय आ गया। घर आने पर उसकी बालका को चेचक की बीमारी हो गई। इस छात्रा ने इसका सम्बन्ध छोटी माता के अनादर करने से जोड़ लिया।

जब कोई व्यक्ति बचपन में डरपोक बन जाता है तो उसका प्रौढ़ावस्था में साहसी बनना कठिन होता है। देखा गया है कि भूत का भय उन लोगों को भी सताता है जिन्होंने विज्ञान का भली प्रकार से अध्ययन किया है और जो भूत के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इसी तरह देवी देवताओं का भय नास्तिक लोगों को भी सताता है। यहाँ एक रोचक दृष्टान्त उल्लेखनीय है—

एक विद्यापीठ के अध्यापक महाशय अपने शिष्यों को भूत के भय के बारे में अनेक प्रकार के व्याख्यान देते थे। वे कहा करते थे कि भूत का भय पूरा निराधार है और मूर्ख लोग ही ऐसे भयों को अपने हृदय में स्थान देते हैं। एक बार इन्हीं महाशय को रात में एक जगह से दूसरी जगह जाने की आवश्यकता हुई। उनके मार्ग में एक श्मशान था। अध्यापक महाशय को उस मार्ग से जाने की हिम्मत न हुई। जब उनसे

कहा गया कि आप तो भूतों के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते, फिर डर क्या है, तब उन्होंने यही जवाब दिया—"यदि कोई भूत निकल पड़े तो?"

हम देखते हैं कि बचपन के संस्कार बड़े ही दृढ़ होते हैं। वे हमारे अचेतन मन में बैठ जाते हैं। प्रौढ़ावस्था में हम अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं, किन्तु ये अनुभव बचपन के संस्कारों को नहीं मिटा पाते। जब हमारे अचेतन मन में एक प्रकार की प्रवृत्ति रहती है और चेतन मन में दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति रहती है तो दोनों में द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है, पर द्वंद्व में अचेतन प्रवृत्ति की ही विजय होती है। यही कारण है कि कितने ही विचारवान व्यक्ति अनेक व्यर्थ बातों से डरा करते हैं। उनका विवेक उन्हें एक ओर ले जाता है, किन्तु उनका हृदय उन्हें बरबस दूसरी ओर ढकेलता है। उनमें स्वतंत्र बुद्धि से विचार करने अथवा सन्मार्ग पर चलने की शक्ति ही नहीं रहती।

भय की मनोवृत्ति का निवारण

बालकों की भय की मनोवृत्ति का निवारण उन्हें साहस के किस्से कहानियाँ सुनाकर किया जा सकता है। बालक अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के युद्ध किया करता है। जब बालक को साहस के किस्से कहानियाँ सुनाई जाती हैं तो वह अपनी कल्पना में अपने आपको विजयी होते पाता है। उसकी कल्पनाएँ उसका उत्साह बढ़ाती हैं।

लेखक को स्मरण है कि जब वह दश वर्ष का था तो जब कभी वह स्वप्न में भूतों को देखता था तो उनसे युद्ध करके उन्हें नष्ट कर डालता था। उसके मनमें यह बैठ गया था कि हनु-

मान चालीसा का पाठ करने वाला व्यक्ति भूतों से कभी भी नहीं सताया जा सकता; उससे भूत डरते हैं। यह भाव मन में बैठ जाने के कारण वह मन चाहे जहाँ रात के समय निर्भीकता से चला जाता था। बालकों के मन में इस प्रकार की निर्भीकता की भावनाएँ कूट कूट कर भर देनी चाहिये।

भय की वृद्धि किसी भी भयकारी घटना पर अधिक सोचने से होती है। अतएव बालकों को इस प्रकार सोचने का अवसर ही न देना चाहिये। जो बालक जितना ही अधिक खेल कूद में लगा रहता है वह उतना ही निर्भीक होता है। निकम्मापन सब प्रकार के अवांछनीय भावों की वृद्धि करता है। बालकों को सदा खेल में लगाये रहना उनके मानसिक स्वाथ्य की दृष्टि से परमावश्यक है।

बालक को सदा रचनात्मक कार्यों में लगाये रखना भी उसके मन को अनेक प्रकार के भयों से मुक्त करता है। रचनात्मक कार्य बालको में साहस की वृद्धि करता है। इससे उसके आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। आत्मविश्वास की वृद्धि होने पर भय की मनोवृत्ति का विनाश हो जाता है। भय नकारात्मक मनोवृत्ति है। रचनात्मक कार्य बालकों की सभी नकारात्मक मनोवृत्तियाँ का अन्त कर देते हैं; अतएव रचनात्मक कार्यों से भयों का भी विनाश होता है।

शारीरिक निर्बलता होने पर भी भयों की वृद्धि हो जाती है। जो बालक जितना ही स्वस्थ होता है उसके मन में उतने ही कम भय होते हैं। भय स्वास्थ्य विनाश भाव है। स्वास्थ्य की वृद्धि होने पर भय का विनाश होना स्वाभाविक है। अतएव जो बालक सदा व्यायाम, खेल कूद आदि में लगे रहते हैं वे निरर्थक भयों के शिकार नहीं बनते।

भय और धार्मिक शिक्षा

मनुष्य के अनेक भयों का कारण उसकी दूषित धार्मिक शिक्षा होती है। साधारणतः माता पिता तथा धर्म शिक्षक बालकों के मन में ईश्वर की इस प्रकार की कल्पनाएँ उत्पन्न करते हैं जिससे कि उसकी भय की मनोवृत्ति प्रबल होती है। वह सदा ईश्वर को नाराज करने से डरा करता है। उसके अच्छे काम उत्साह की मनोवृत्ति से प्रेरित न होकर भय से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार के कार्य उसके जीवन से आनंद का अन्त कर देते हैं, और उसमें गुलामी की मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि जिस देश में धर्म शिक्षा का प्रचार अधिक होता है वहाँ के निवासियों को धर्म शिक्षा के अभाव के देशों की अपेक्षा गुलाम बनाये रखना सरल होता है।

आधुनिक काल में ईश्वर को मनुष्य की स्वतंत्रता का शत्रु माना गया है। स्वार्थी लोग ईश्वर के नाम पर अनेक प्रकार की ठगी करते हैं। इसका प्रमुख कारण प्रचिलित ईश्वर की कल्पना ही है। यदि हम ईश्वर की कल्पना में भय को स्थान न देकर प्रेम को प्रमुख स्थान दें, ईश्वर को एक स्वेच्छाचारी राजा न मानकर अपना सखा, प्रेमी अथवा अन्तर्यामी मानें तो ईश्वर के प्रति किसी प्रकार का विद्रोह करने की आवश्यकता न हो। ईश्वर हमारा सहायक और मित्र है; वह हमें कष्ट से बचाता है। वह हमारा प्रेमी है; वह हमारा आत्मा ही है। इस प्रकार की भावनाएँ हमारे भय की मनोवृत्ति का अन्त करती हैं।

कितने ही लोग जिनके मन में ईश्वर का भय बचपन में बैठा दिया गया है, जब वे पीछे नास्तिक भी हो जाते हैं, डर

की मनोवृत्ति से मुक्त नहीं होते। उनकी डर की मनोवृत्ति अब नए नए पदार्थों पर आरोपित हो जाती है। भविष्य का भय, चोरों का भय, समाज में सम्मान खोने का भय, परीक्षा का भय—ये सभी भय ईश्वर भय के रूपान्तर मात्र हैं।* व्यक्ति के मन को इनसे मुक्त करने के लिए उसको दूषित धार्मिक शिक्षा से बचाना आवश्यक है।

भय की मनोवृत्ति का संपूर्ण निवारण आत्मज्ञान और आत्मविश्वास की वृद्धि से होता है। ज्ञान से ही मनुष्य सुखी हो सकता है। अतएव जितना ही हम बालकों के ज्ञान की वृद्धि करते हैं उतना ही हम उन्हें भय की मनोवृत्ति से मुक्त करते हैं। पर सच्चा ज्ञान क्रियात्मक होता है। ज्ञान के साथ साथ बालक कोसदा उपयोगी काम में लगाये रखना उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है।

---

* होमरलेन महाशय का निम्नलिखित इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है—

His adult views will be so different from his earlier teachings that he will refuse to believe that the latter existed once or now surrive But the intense emotional anxiety, detached entirely now from his ideas of Deity, are floating unattached, ready to fasten themselves in a most irrational manner to some quite irrelavent issue of his adult life. The explanation of "anxiety neurosis" lies in this using up in new ways of anxieties once definitely associated with fears about eternity—

—*Talks to Parents and Teachers,* P. 128.

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की नैतिक शिक्षा

बालकों की नैतिक शिक्षा कब और किस प्रकार की जाय यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न सभी समय के शिक्षा शास्त्र के विद्वानों ने किया है। आज दिन तक यह प्रश्न जटिल ही बना है। जैसे जैसे मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे वैसे नैतिक शिक्षा के विषय में मनोवैज्ञानिकों के विचार बदलते जाते हैं।

नवीन मनोविज्ञान के कथनानुसार हमारी साधारण नैतिक शिक्षा की विधि दूषित है। हम जिस प्रकार बालक को नैतिक शिक्षा देते हैं उससे बालक का व्यक्तित्व सुगठित न होकर निकम्मा हो जाता है। देखा गया है कि जिस बालक को जितने ही कठोर नियन्त्रण में रखा जाता है वह उतना ही उद्दण्ड अथवा निकम्मा हो जाता है। कितने ही बालकों को अनेक प्रकार की शरीरिक और मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो उन्हें जीवन भर त्रास देती हैं।

नैतिक शिक्षा का समय

रुसो महाशय का कथन है कि बालकों को तब तक नैतिक उपदेश न दिये जाँय जबतक उनमें विचार करने की शक्ति का

विकास न हो। किशोरावस्था के पूर्व बालक को जो नैतिक उपदेश दिये जाते हैं, उन्हें बालक बिना समझे बूझे मान लेता है। ये उपदेश बालक के मनमें दृढ़ संस्कार के रूप में बैठ जाते हैं। इससे बालक में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति सदा के लिए चली जाती है। जिस बालक के मन में किसी प्रकार के नैतिक विचार कूट कूट कर भर दिये जाते हैं, वह सदा प्रगतिशील विचारधारा का विरोधी होता है।

समय के पूर्व नैतिक विचारों का मन में भर जाना बालक के स्वास्थ्य को हानिकर होता है। बालकों में जीवन के आरंभ में स्वार्थ भाव प्रबल होता है। उसे अनेक प्रकार के शरीरिक सुखों की इच्छाएँ होती हैं। जब नैतिक शिक्षा के द्वारा उसकी इन इच्छाओं का दमन होता है तो वह ऊपर से सदाचारी बन जाता है, किन्तु उसका व्यक्तित्व निर्बल हो जाता है उसका मन उसी अवस्था में बना रहता है जिस अवस्था की इच्छाएँ दलित की जाती हैं। इस प्रसंग में लार्ड लिटिन महाशय का कथन उल्लेखनीय है। लार्ड लिटिन अपनी पुस्तक न्यू ट्रेजर में लिखते हैं—

बालक के व्यक्तित्व तथा चरित्र को उसकी शैशवावस्था की इच्छाओं को तृप्त करके हानि पहुँचाना असंभव है, पर उनका दमन करके उनको दुराचारी बनाना सरल है। जब उसकी बचपन की इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं, तब बालक के चरित्र के विकास का मार्ग खुल जाता है। उसकी नैतिक उन्नति की फिर कोई रुकावट नहीं रहती। पर जब उसकी बचपन की इच्छाएँ और भावनाएँ दबा दी जाती हैं तो वे उसके अव्यक्त मन में स्थान पा लेती हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास को रोक देती हैं। इस प्रकार समय के पूर्व नैतिक शिक्षा के

कारण बालक के जीवन में अनेक प्रकार के दुःखों की सृष्टि होती है।*

नैतिकता का स्वाभाविक विकास

शिशु का अधिक आनंद अपने आपको सुखी बनाने में रहता है। उसे दूसरों की परवाह नहीं रहती। शिशु की अधिक इच्छाएँ खाने पीने, सोने, खिलाये जाने की होती हैं। शिशु स्वार्थी होता है और उसका स्वार्थी होना स्वभाविक है। बालक का स्वार्थीपन बड़ों को नहीं भाता; अतएव वे उसकी नैतिक शिक्षा में लग जाते हैं। वे बालक को उसके स्वार्थीपन के लिए डाटते फटकारते हैं। इस तरह उसका स्वार्थीपन नष्ट नहीं होता, वरन् उसके अदृश्य मन में सदा के लिए घर कर लेता है। जो बालक शिशु काल में जितना ही स्वार्थी होता है वह प्रौढ़ होने पर उतना ही परमार्थी बन जाता है। पर यह तभी होगा जब बालक के जीवन के स्वाभाविक विकास में बाधा न डाली जाय। यदि बालक के व्यक्तित्व को स्वाभाविक रूप से विकसित होने दिया जाय तो उसका स्वार्थीपन अपने आप निकल जायगा। वह यह समझ लेगा कि सबसे ऊँचा

---

* It is impossible to spoil a child psychically by satisfying its sensation pleasure, but very easy to do so by repressing them, The desire when satisfied will grow into a higher spiritual need, if repressed it becomes fixed in the stage in which it was repressed, with ill effects that last throughout life.

Lord Lytton. *New Traesure*, P. 128,

आनन्द अपने आपको सुखी बनाने में नहीं है, वरन् दूसरों को सुखी बनाने में है। उसका किसी पदार्थ को अपनालेने का प्रेम रचनात्मक प्रेम में परिणत हो जायेगा और स्वार्थ भाव बिना किसी मानसिक झंझट के कर्तव्य पालन और परसेवा में प्रकाशित होगा।*

बालक में अपने आप कैसे नैतिकता का विकास होता है, इसका एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। लेखक के एक विद्यार्थी के मित्र के दो बालक हैं। एक बालक की अवस्था एक साल की है और दूसरे की चार साल की। कुछ दिन पहले बड़ा बालक छोटे बालक से बड़ी दुश्मनी का भाव रखता था। जब वह उसे अकेला पाता तो पीट देता था। यदि वह कोई खिलौना हाथ में लिये रहता था तो वह उसे छीन लेता था। क्योंकि छोटे बालक को रुलाने में ही उसे आनंद आता था। माता पिता छोटे भाई को तंग करने के लिए बड़े बालक को डाँटते थे, पर उसकी यह आदत नहीं जाती थी। वे उसे समझा बुझाकर कहते थे, कि यह तुम्हारा भाई है इसे तुम

---

* "Selfishness in small children is natural ; and the measure of its self-love is the measure of its capacity for stongest altruism. If allowed to develop to the utmost, it will, in due course, lead the child to the discovery that the highest kind of happiness is to he found in giving to others rather than to itself. Possessive love will develop into creative love, and selfishness will find its outlet without conflict in all forms of duty and service."

—Lytton, *New Treasure*. P. 116.

मत मारो। पर इस प्रकार के उपदेश से उसके व्यवहार में कोई सुधार नहीं होता था। जब कभी छोटे भाई के बारे में बातचीत होती थी, तो बड़ा बालक यहीं पूछा करता था कि यह बच्चा कब यहाँ से चला जायगा।

बालक की इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण खोज करने से पता चला कि माता पिता पहले बड़े बालक को ही अधिक प्यार करते थे। छोटे बालक की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। पीछे उनके दोनों बालकों के प्रति व्यवहार में परिवर्तन हो गया। वे छोटे बालक को अधिक प्यार करने लगे और बड़े बालक की अवहेलना करने लगे। यदि कोई खिलौना देना होता, तो पहले छोटे बालक को देते थे। खाने पीने, गोदी में बिठालने में वे छोटे बालक को प्रथम स्थान देते थे। इसके कारण बड़े बालक का मन ईर्षालु हो गया था। प्रौढ़ व्यक्ति भी जब इस प्रकार के वातावरण में पड़ते हैं तो उन्हें भी ईर्षा का भाव उत्पन्न होता है, किन्तु वे इस भाव को छिपा लेते हैं, अथवा अपनी नैतिक बुद्धि से उसका दमन कर देते हैं। पर बालक में उसकी दुर्भावनाओं को छुपाने की न तो शक्ति ही रहती है और न वह उनका दमन ही कर सकता है। वह अपनी प्रबल भावनाओं को प्रकाशित करने लगता है। इसके लिए बालक को ताड़ना देना व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक है। प्रबल भावनाएँ किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा से भी नहीं दबाई जा सकती। इस प्रकार की शिक्षाए शिशु के लिए व्यर्थ हैं।

मेरे विद्यार्थी ने जब इस प्रकार की दोनों बालकों की स्थिति देखी तो उन्होंने उनके माता पिता से कहा "आप लोग बड़े बालक को सबसे अधिक प्रेम दिखलाइये ; आप हर एक बात में उसे यह जनाने की चेष्टा कीजिये कि हम तुम्हें छोटे बालक

की अपेक्षा अधिक प्यार करते हैं। यदि ऐसा न करेंगे तो पीछे पछताना पड़ेगा।

माता पिता ने मेरे विद्यार्थी का कहना मान लिया। तीन चार महीने तक जान बूझ कर बड़े बालक की अधिक परवाह की गई और छोटे बालक को अवहेलना की दृष्टि से देखा गया। इसका परिणाम बड़ा ही अच्छा हुआ। बड़े बालक का छोटे बालक के प्रति पहले का बैर भाव बदल गया। अब वह उससे खूब प्यार करने लगा है और वह जहाँ जाता है उसे साथ ले जाता है। खाने पीने की चीज़ वह स्वयं पहले पहल अपने भाई को देता है। वह उसके साथ खेलता और उसे अनेक प्रकार से प्रसन्न करने की चेष्टा करता रहता है।

इस प्रयोग से माता पिता तथा बालकों के अन्य अभिभावकों को उनकी नैतिक शिक्षा के विषय में शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। जब बड़े बलक की माता पिता के प्रेम प्राप्त करने की इच्छा तृप्त हो गई तो उसका स्वार्थीपन और ईर्षाभाव अपने आप नष्ट हो गया। यह स्वार्थीपन, तथा ईर्षा भाव तबतक नष्ट नहीं हुआ जबतक उसकी स्वार्थ भाव की इच्छा तृप्त नहीं हुई थी। बालक की स्वार्थमयी इच्छाओं के तृप्त होने पर वह अपने आपही उदारचित्त बन गया। यह संभव है कि उक्त बालक को मार पीट कर भी उसका अपने छोटे भाई के प्रति व्यवहार में परिवर्तन किया जा सकता था, पर इस प्रकार के व्यवहार के परिवर्तन के दुष्परिणाम बहुत से होते हैं। इससे बालक चिड़चिड़ा, चुगलखोर, धोखेबाज, आलसी, व्यभिचारी, क्रूरकर्म्मा हो जाता है।

नवीन मनोविज्ञान का मौलिक सिद्धान्त है कि इच्छाओं को नष्ट नहीं किया जा सकता। यातो हम उन्हें विकसित करके

पूर्णता की ओर ले जा सकते हैं, अथवा उनका दमन करके आत्मवञ्चना का हेतु बना सकते हैं। शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या बालक की इच्छाओं को जानकर उनकी शक्ति को इस प्रकार प्रवाहित करना है जिससे एक ओर व्यक्ति के सुख की वृद्धि हो और दूसरी ओर समाज का लाभ हो। उसकी विषय-सुख की इच्छा को रचनात्मक आनंद की इच्छा में परिणत करना ही शिक्षा का सबसे ऊँचा ध्येय है।*

भयजनित नैतिक आचरण के दुष्परिणाम

बालक नैतिक आचरण दो प्रकार की प्रेरणा से कर सकता है—एक भय से और दूसरा प्रेम से। हमारी साधारण नैतिक शिक्षा बालक के मनमें भय की वृद्धि करती है। भय दुःख मूलक होता है। बालक के मन में प्रारंभ से ही हमारी नैतिक शिक्षा के कारण माता पिता का भय, स्वर्ग नरक का भय तथा ईश्वर का भय बैठ जाता है। भय से प्रेरित होकर जो बालक सदाचारी बनता है वह भय के अभाव में दुराचारी हो जाता है। यदि

---

*Desires can never be eliminated; they are either be evolved and perfected or repressed aud rationalised. It is the problem of education to release the complete race-knowledge and consequent desires that are in us, by directing them into channels consistent with the requirements of our envrionment, to satisfy desires for possessive happiness which are incompatible with the welfare of the race, by converting them into desires for creative happiness which serve the interest of others.

—Lytton, *New Treasuer*, P. 125.

बालक के मन में किसी प्रकार का भय इस तरह बैठा दिया जाय कि वह उसके मन से किसी तरह बाहर न निकले तो वह सदा के लिए दास मनोवृत्ति का बन जाता है। उसमें स्वावलम्बन की भावना रहती ही नहीं। ऐसा बालक सदा डरपोक होता है और आत्म रक्षा के लिए प्रयत्न करते रहता है। स्वतंत्रता के आनंन्द भोगने की क्षमता उसमें नहीं रहती। यही कारण है कि जिस देश में बालकों की नैतिक शिक्षा पर अधिक जोर डाला जाता है, जहाँ धर्म-शिक्षा को अधिक महत्व दिया जाता है वहाँ के नागरिकों को गुलाम बनाकर रखना सरल हो जाता है। जो व्यक्ति ईश्वर के डर से डरा करता है और इस डर के कारण स्वतंत्र आचरण नहीं करता, वह किसी भी स्वेच्छाचारी सत्ता से भी डरने लगता है। भाग्य, तकदीर आदि के विचार इस प्रकार के लोगों के मन में घर कर लेते हैं।

प्रत्येक बालक की शरीरिक सुख की वासनाएँ प्रबल होती हैं। नैतिक शिक्षा इन वासनाओं को दमन करने का आदेश करती है। जब बालक इस प्रकार के दमन में समर्थ नहीं होता तो वह अपने आपको कोसने लगता है। यह आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि बालकों के मनमें उत्पन्न कर देती है। आत्म-भर्त्सना से बचने के लिए मनुष्य अपने आचरण को भुलाने की चेष्टा करता है। इस तरह वह दूसरों की नुक्ताचीनी करने लगता है। दूसरों की नुक्ताचीनी करने की आदत तथा परसुधार की आदत का उदय इसी प्रकार होता है। जब मनुष्य के मनमें आत्महीनता की ग्रन्थियों की वृद्धि हो जाती है तो वह अपनी ओर न देख कर संसार की ओर देखने लगता है। जो दोष अपने चरित्र में हैं उन्हें वह

दूसरों पर आरोपित करता है। ऐसे व्यक्ति में आत्म-स्वीकृति की शक्ति नहीं रहती। उसके चेतन और अचेतन मन में सदा अतर्द्वन्द्व चला करता है। इस प्रकार उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे मनुष्य की नैतिक शिक्षा उसे लाभप्रद न होकर हानिप्रद होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बालक की नैतिक शिक्षा में जिस प्रकार भयसे काम लिया जाता है, प्रेम से भी काम लिया जा सकता है। जब बालक किसी भले कार्य को प्रेमवश करता है, तो उसके उत्साह की वृद्धि होती है। उसे रचनात्मक आनंद की अनुभूति होती है। जिस बालक को एक बार भी आनंद की अनुभूति हो गई है वह सदा ऐसे आनंद की खोज में रहता है। वह दूसरों को प्रसन्न करने की चेष्टा करता रहता है। दूसरों की प्रसन्नता में ही वह अपनी प्रसन्नता को देखता है। प्रोत्साहन और प्रेम से प्रेरित होकर जो कार्य किये जाते हैं वे ही मनुष्य के जीवन का आध्यात्मिक विकास करते हैं। पर हमें यह जान लेना आवश्यक है कि बालक समय के पूर्व प्रेम से प्रेरित होकर कार्य नहीं कर सकता। जिस बालक की आंतरिक इच्छाएँ जितनी दलित होती हैं, उसमें प्रेम का व्यवहार करने का सामर्थ्य उतना ही कम होता है। बालक प्रेम और प्रोत्साहन से प्रेरित होकर नैतिक आचरण कर सके, इसके लिए प्रारंभ से ही उसकी तैयारी करना आवश्यक है। हमारे साधारण बालक भय के कारण ही नैतिक आचरण करते हैं। अतएव जब उन्हें अपने व्यवहारों में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाती है तो पहले पहल वे अनेक प्रकार के दुराचारों में लग जाते हैं। स्वतंत्रता की इस प्रकार की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। हमें इससे घबड़ाना नहीं चाहिये। स्वतंत्र

बालक धीरे २ अपने अधिकारों और कर्तव्यों को पहचानने लगता है। जब उसे रचनात्मक आनंद की मौलिकता ज्ञात हो जाती है तो वह भय से प्रेरित होकर काम करने वाले व्यक्ति से कहीं अच्छी तरह सबकी भलाई का काम करता है। वह इस प्रकार के कामों के लिए किसी प्रकार के पुरस्कार की अपेक्षा भी नहीं रखता। वह आत्मप्रेरणा से ही भला काम करने लगता है।

नील महाशय और होमरलेन महाशय के प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि किसी भी व्यभिचारी बालक को स्वतंत्रता और प्रेम के वातावरण में रखकर सुधारा जा सकता है। देखा गया है कि भय के वातावरण में रखा गया बालक जब स्वतंत्रता के वातावरण में पहले पहल आता है तो उसका दुराचार और भी अधिक बढ़ जाता है। पर धीरे २ उसमें आत्मनियंत्रण की शक्ति आ जाती है। इस शक्ति के आ जाने पर ज्ञात होता है कि जिस बालक को समाज बुरा कहता है वास्तव में वही बालक औरों की अपेक्षा अच्छा होता है। उसका दुराचार यह सिद्ध करता है कि उसमें समाज के भय का सामना करने की शक्ति है। जो बालक समाज के भय से दब नहीं जाता वही दुराचारी होता है। जब ऐसे बालक को अपने काम में लगाने के लिए भय का स्थान प्रेम और प्रोत्साहन ले लेता है तो वह संसार का एक महान व्यक्ति बन जाता है। वाशिंगटन राबर्ट क्लाब, शिवाजी का जीवन यही सिद्ध करता है। ये महान व्यक्ति भय से दबे नहीं, अतएव वे उद्‌दण्ड बालक कहलाते थे। पर जब इनके जीवन में प्रोत्साहन और प्रेम का साम्राज्य हो गया तो ये महान व्यक्ति बन गए।

कितने ही माता-पिता और शिक्षक बालकों की नैतिक शिक्षा के लिए बड़े उद्विग्नमन रहते हैं। इस प्रकारकी उद्विग्नता उनके मानसिक रोग की प्रदर्शक है। अपने बालकों का चरित्र सुधारने की अधिक चिन्ता करनेवाले ही अविभावक तथा शिक्षक उनके चरित्र को बिगाड़ देते हैं। दूसरों के चरित्र के सुधार की इच्छा प्रायः अपने आपकी कमी की पूर्त्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होती है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया को मनोविश्लेषक-वैज्ञानिकों ने अतिपूर्ति की प्रतिक्रिया कहा है*। बालकों के चरित्र सुधार में उतावलेपन का परिणाम यही होता है कि बालक वास्तव में दुराचारी हो जाता है। इस तरह जिस दोष के आने से अविभावक डरा करते हैं वही दोष बालक के चरित्र में आ जाता है।

बालक के चरित्र के सुधार के लिए न उतावलेपन से काम लेना चाहिये और न उसके विषय में अत्यधिक चिन्ता करनी चाहिये। चिन्ता की मनोवृति भय की मनोवृत्ति है। हमारे भय हमारे जीवन में उसी प्रकार फलित होते हैं जिस प्रकार कि हमारी दृढ़ इच्छाएँ फलित होती हैं।

हमें विश्वास रखना चाहिये कि बालक का जीवन संचालन करने वाली शक्ति स्वयं भली है, और वह बालक को भलाई की ओर ही ले जाती है। हमारा काम बालक के आत्मविकास में सहायता देना है। यह आत्मविकास अपने आप हो रहा है। यह हमारे प्रयास से नहीं होता। हम इस आत्मविकास में सहायता मात्र कर सकते हैं।

---

* Over-compensation.

सोलहवाँ प्रकरण

मानसिक वातावरण का प्रभाव

मनोविज्ञान की खोजों से ज्ञात हुआ है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास में जितना उसके वातावरण का प्रभाव होता है, उतना वंशानुक्रम का नहीं होता। बालक के व्यक्तित्व की अनेक बातें जिन्हें हम जन्मजात मान लेते हैं वातावरण से उत्पन्न होती हैं।

अप्रकाशित विचारों का प्रभाव

बालक का वातावरण दो प्रकार का होता है—एक भौतिक और दूसरा मानसिक अथवा आध्यात्मिक। बालक का भौतिक वातावरण उन पदार्थों और व्यक्तियों का बना होता है जिन्हें बालक हर समय अपने आस पास देखता है। उसका मानसिक वातावरण उसके आस पास उपस्थित विचारों का बना होता है। मानसिक वातावरण भी दो प्रकार का होता है—एक प्रकाशित विचारों का और दूसरा अप्रकाशित विचारों का। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इन दोनों प्रकार के विचारों से प्रभावित होता रहता है, पर जो व्यक्ति जितना अधिक विचारों में कम विकसित है वह उतना ही अधिक अप्रकाशित विचारों से प्रभावित होता है। बालक में विचार करने की शक्ति नहीं होती, अतएव वह जितना हमारे अप्रकाशित विचारों से प्रभा-

वित होता है, उतना हमारे प्रकाशित विचारों से प्रभावित नहीं होता। छोटे बालक में भी हमारे अप्रकाशित विचारों को ग्रहण करने की शक्ति होती है और ये विचार उसके व्यक्तित्व को बनाने में सहायक होते हैं अथवा उसमें विकार उत्पन्न करते हैं।

मान लीजिये हम चार महीने के बालक को गोदी में लिये हुए हैं और बालक पेशाब कर देता है। हम उससे क्रुद्ध हो जाते हैं। हम कुछ नहीं बोलते, पर हमारा मन असंतोष से भर जाता है। छोटा बालक हमारे भावों को नहीं समझ सकता, पर उसके व्यक्तित्व पर हमारे परिवर्तित रूप की छाप पड़ जाती है। जैसे बिजली अदृश्य रूप से एक पदाथ से दूसरे पदार्थ में प्रवेश कर जाती है, इसी प्रकार हमारी मनोवृत्ति हमसे बालक के मन में प्रवेश कर जाती है। यदि हमारे विचार बालक के प्रति बहुत ही अनुदार हों तो बालक का जीना कठिन हो जाता है। वह अनेक प्रकार की बीमारियों का शिकार बन जाता है। बालक की किसी भी प्रकार की बीमारी को जीतने में प्रौढ़ लोगों की सद्भावना की ही आवश्यकता है। जब बालक के प्रति उसके समीप के लोगों की सद्भावना नहीं रहती, तब उसका बीमारियों का सामना करना कठिन हो जाता है।

बालक के प्रति हमारे अप्रकाशित विचार ही उसे प्रभावित नहीं करते, वरन् दूसरे लोगों के प्रति भी हमारी भावनाएँ चाहे वे प्रकाशित हों अथवा अप्रकाशित बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। बालक का मन निर्मल होता है, अतएव किसी भी प्रकार का उग्र विचार उसके मन को तुरन्त प्रभावित करता है। जो मनुष्य सदा दूसरों से लड़ता झगड़ता

रहता है, उसकी सन्तान भी झगड़ालू और चरित्रहीन हो जाती है। यदि किसी मनुष्य को अधिक क्रोध से भरे विचार आते हैं और वह इन विचारों को प्रकाशित नहीं कर पाता, तो उसके ये विचार उसके बालकों के व्यक्तित्व को हानि पहुँचाते हैं। बालक व्यक्ति के अचेतन मन की भावनाओं को अपने हृदय में स्थान दे देता है और इससे अनेक प्रकार के दुःख को सहता है।

विख्यात पुरुषों की सन्तान की अयोग्यता का कारण

देखा जाता है कि कितने ही विद्वान पुरुषों की संतान निकम्मी होती है, और कितने ही चरित्रवान लोगों की सन्तान दुश्चरित्र होती है। इसके लिए हम प्रायः माता पिता को जिम्मेदार नहीं समझते हैं। हम समझते हैं कि किसी बालक का भला अथवा बुरा होना बालक के जन्मजात स्वभाव पर निर्भर रहता है। कभी कभी बालक के दोषों के लिए माता पिता अपने आप को कोसकर संतोष कर लेते हैं। पर यह एक भारी भूल है। विद्वान और चरित्रवान व्यक्ति की सन्तान के दुश्चरित्र अथवा निकम्मे होने के लिए उसके माता पिता ही जिम्मेदार हैं। विद्वान अथवा चरित्रवान व्यक्ति के प्रकाशित विचार और आचरण संसार के लोगों को काम देते हैं, पर उसके अप्रकाशित विचार और उसकी दलित भावनाएँ उसके बालकों के मन में स्थान पा लेती हैं। उसी व्यक्ति की संतान सुयोग्य होती है जिसका चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार का मन निर्मल होता है। कितने ही विद्वान पुरुषों का अचेतन मन अशिक्षित रहता है और कितने ही चरित्रवान व्यक्तियों का अचेतन मन

कलुषित और अनेक प्रकार की भोग-वासनाओं से भरा रहता है। ये भावनाएँ उनके बालकों के व्यक्तित्व में मूर्तिमान होती हैं। बनारस के एक प्रसिद्ध विद्वान, जिन्होंने अपने समय में भारतवर्ष के प्रत्येक विद्वान से सम्मान पाया था, अपने पुत्र को शिक्षित न बना सके। उनके लाख प्रयत्न करने पर भी उनका पुत्र अपढ़ और मूढ़ बना रहा। जब कोई उससे पढ़ने लिखने को कहता था तो वह यही कहता था कि मेरे पिता ने सब कुछ पढ़ ही डाला है, मुझे पढ़ने की आवश्यकता क्या है। इस तरह अनेक प्राफेसरों के बालक पढ़ने लिखने से बिलकुल विमुख रहते हैं।

ऐसी घटनाओं के कारण खोजने से पता चलता है कि इन लोगों के माता पिता अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात रहने के कारण वे पूणतः शिक्षित नहीं हो पाये थे। जहाँ कहीं सन्तान में किसी प्रकार की विशेष बुरी आदत अथवा हठ पाया जाता है तो हम उसका कारण माता अथवा पिता के व्यक्तित्व में पाते हैं। विद्वान लोग पुस्तक याद करने में प्रवीण होते हैं। उनके चेतन मन के विचार बड़े रोचक हो जाते हैं, किन्तु विरला ही कोई विद्वान पुरुष अपने अचेतन मन को सुशिक्षित बनाता है। हमारे चेतन मन को बाहरी गुरु अथवा कोई पुस्तक शिक्षित कर सकती है, किन्तु हमारे अचेतन मन को हमें स्वयं ही शिक्षित बनाना पड़ता है। जो विद्वान् अपने प्रकाशित व्यक्तित्व की ओर ही ध्यान देते रहते हैं और उसकी कीमत बढ़ाने के लिए अनेक उपाय रचा करते हैं, उन्हें अपने अचेतन मन को शिक्षा देने की फुरसत नहीं रहती। इसके परिणाम स्वरूप वे कामी, क्रोधी अथवा ईर्षालु हो जाते हैं। ये भाव बालक के मन में जम जाते हैं और बालक भी इसी प्रकार का बन जाता है।

कभी कभी मान-प्रतिष्ठा में विश्वास करने वाले व्यक्ति अपनी सभी पाशविक वासनाओं को कुचल डालते हैं। किन्तु ये वासनाएँ इस प्रकार कुचली जाने से मरती नहीं। इस प्रकार के व्यक्ति उन वासनाओं की तृप्ति दूसरों की निन्दा करके करते हैं। पर ये वासनाएँ अपने व्यक्तीकरण का दूसरा रूप भी जानती हैं। वे बालकों के चरित्र में आकर प्रकाशित होती हैं। पर यदि इन वासनाओं के प्रति किसी व्यक्ति का नियंत्रण अति कठोर हुआ तो उसके बालकगण कुचले हुए व्यक्तित्व के बन जाते हैं। उनकी प्रतिभा विकसित नहीं होती। अति कठोर पिता की सन्तान निकम्मी होती है। इसका प्रधान कारण यही है कि कठोर पिता में उदार भाव नहीं रहते। उसका अचेतन मन अशिक्षित रहता है। जो व्यक्ति अपने आपको शिक्षित नहीं बना पाता, जो अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसकी सन्तान सुयोग्य नहीं होती। ऐसे व्यक्ति की सन्तान या तो दुराचारी अथवा निकम्मी और रोग-ग्रस्त होती हैं।

पिता के अभिमान का कुपरिणाम

बहुत से विद्वान पुरुष बड़े अभिमानी होते हैं। वे अपने बालकों को भी अपने जैसे विद्वान बनाना चाहते हैं। पर उनमें बालकों को पालने की योग्यता नहीं होती। बालकों की प्रतिभा जाग्रत करने के लिए उसकी त्रुटियों की कड़ी आलोचना से अपने आपको बचाना आवश्यक होता है। बालक का व्यक्तित्व प्रशंसा और प्रोत्साहन से बढ़ता है। इनके अभाव में जैसे पानी के अभाव में नया पौधा सूख जाता है ऐसे

बालक को बार बार डाँटने-डपटने से उसकी हिम्मत टूट जाती है, और उसका उत्साह नष्ट हो जाता है।

लेखक के एक विद्यार्थी ने अपने एक मित्र के बालकों की यह कहानी सुनाई। विद्यार्थी के मित्र एक बड़े ही परिश्रमी व्यक्ति हैं। उनके पिता थोड़े ही पढ़े-लिखे थे। उन्होने अपने परिश्रम से इन्ट्रेन्स परीक्षा पास करली। इसके बाद उन्होंने रोज़गार करना प्रारम्भ किया। थोड़े ही दिनों में लगातार परिश्रम करके उन्होंने लाखों रुपया कमाया। वे अपने पिता से बहुत ही अधिक योग्य सिद्ध हुए। उन्होंने अपने लड़कों को शिक्षा दी। लड़के साधारण बालकों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान थे। किन्तु उनका कोई भी लड़का एक बार बैठकर मैट्रिक परीक्षा में सफल न हो सका। जो सफल भी हुए वे आगे न बढ़ सके। पिता सदा अपने पुत्रों को कहा करते थे—तुम निकम्मे हो, जैसा मैंने कर दिखाया तुम क्या कर सकोगे? मैं अपने पिता से इतना आगे बढ़ गया तुम तो कुछ भी नहीं कर पावोगे। इस प्रकार के प्रति-दिन के निर्देशों ने बालकों को वास्तव मे निकम्मा बना दिया।

यहाँ हम देखते हैं कि वास्तव में बालकों का पिता ही सुशिक्षित नहीं था। उसका अचेतन मन अज्ञानी था; अतएव उसके अहंकार की सीमा न थी। अचेतन मन के सुशिक्षित होने पर मनुष्य अपनी ही वृद्धि से सुखी नहीं होता; वह दूसरों की भी वृद्धि चाहता है। इसके परिणाम स्वरूप वह सब लोगों की त्रुटियों को क्षमा करता है और सदा दूसरों को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। उसका यही मनोभाव अपने बालकों की उन्नति में आनंद की अनुभूति करने में उसका सहायक होता है।

कितने ही सिद्धान्तों के पक्के लोगों की सन्तान निकम्मी हो जाती है। इसका कारण उनकी सिद्धान्तों के प्रति लगन नहीं, वरन् उनकी अनुदार मनोवृत्ति है। एक मेरे परिचित व्यक्ति के दो बालक हैं। ये सज्जन अपने बालकों को बड़े कड़े शासन में रखते आये हैं। ये अपने विद्यार्थियों के ऊपर भी बहुत कड़ा नियंत्रण रखते हैं। इनके दोनों बालक बुद्धि में प्रखर हैं, उन्हें सब प्रकार की शिक्षा दी जाती है, किन्तु इतना होने पर भी उनमें किसी प्रकार की प्रतिभा का प्रकाश नहीं दिखाई देता। उनमें से एक बार बार इम्तहान में फेल हो जाता है; दूसरे को कभी कभी विक्षिप्तता हो जाती है।

लेखक एक दूसरे व्यक्ति से परिचित है, जिसका बाह्य जीवन सरल सा दिखाई देता है। वे बड़े उदार चित्त के हैं, किन्तु अपने कर्तव्य के पक्के हैं। वे स्वयं अपने बालकों को पढ़ाते हैं। उनके बालक बड़े ही सुशील हैं और परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास होते हैं। पिता का बाहरी और भीतरी मन एक सा रहने पर किस तरह सन्तान सुयोग्य होती है, यह उनके जीवन से स्पष्ट होता है।

अनुदार विचारों का बालक पर प्रभाव

अपने आस पास के लोगों के प्रति जब पिता के विचार अनुदार होते हैं तो सन्तान रोगी हो जाती है। पिता के अनुदार विचार बालक को अपना शिकार बना लेते हैं। बालक को हानि पहुँचाने के लिए इन अनुदार विचारों का प्रकाशित होना आवश्यक नहीं, प्रकाशित न होने पर भी ये विचार बालक को हानि पहुँचाते हैं। लेखक के एक मित्र बड़े

विद्वान हैं, वे बड़े सच्चरित्र हैं, पर उनमें सहनशीलता का अभाव है। वे दूसरों की मूर्खता के व्यवहार को सह नहीं सकते। कभी कभी व्यर्थ प्रश्न पूछने पर वे लड़कों से इतने क्रुद्ध हो जाते हैं कि क्लास छोड़ कर थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाते हैं। उनके इस प्रकार के स्वभाव का परिणाम उनके बड़े लड़के पर, जिसकी अवस्था छः साल की है, बहुत ही बुरा हुआ। उसे एक ऐसी बीमारी पैदा हो गई जिससे मुक्त होना कठिन होगया। यह बालक चिड़चिड़ा होगया। उसके बोलने में पहले पहल विकार उत्पन्न हुआ। धीरे धीरे वह शब्द भूलने लगा और अब उसका बोलना ही बंद होगया। क्रोध के वातावरण का बालक के जीवन पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है, इसका अंदाज़ लगाना कठिन है।

संतान का सुयोग्य बनाना यह एक महान् धार्मिक कार्य है। इससे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। जिस व्यक्ति का आध्यात्मिक जीवन जितना ही उच्च कोटि का होता है, वह अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। बालकों के व्यक्तित्व को सुविकसित बनाने के लिए नियंत्रण की आवश्यकता है, पर उससे भी अधिक प्रेम के वातावरण की आवश्यकता है। आध्यात्मिकता का सार भाग प्रेम है जहाँ प्रेम का अभाव रहता है वहाँ किसी भी प्रकार की दैविक विभूति का विकास नहीं होता। जो मनुष्य सभी के प्रति प्रेम प्रदर्शन करते हैं वे ही अपनी सन्तान के प्रति सच्चा प्रेम प्रदर्शन कर सकते हैं। ऐसे ही लोग उनकी त्रुटियों से परेशान नहीं होते, वरन् उनको धीरे धीरे सुधारने की चेष्टा करते हैं।

सत्रहवाँ प्रकरण

अनुशासन और सहानुभूति

नवीन मनोविज्ञान ने बालकों के स्कूल तथा घर के अनुशासन के विषय में एक भारी प्रश्न यह खड़ा कर दिया है कि हमें उनके नियन्त्रण में कहाँ तक कठोरता और कहाँ तक सहानुभूति से काम लेना चाहिये। बालकों के ऊपर किसी प्रकार का अनुशासन न रखना अव्यवहार्य ही नहीं हानिकर भी है। पर साथ ही साथ हमें नवीन मनोविज्ञान कठोर अनुशासन के दुष्परिणामों को भी दर्शाता है। अनुशासन में सहानुभूति का स्थान क्या है, इसको समझने के लिए अनुशासन का स्वरूप जानना आवश्यक है।

अनुशासन का स्वरूप

अनुशासन बालक की शिक्षा का वह साधन है जिससे कि बालक नियमों का पालन करना सीखता है और जिससे बाल-समाज में सुव्यवस्था स्थापित रहती है। अनुशासन दो प्रकार का माना गया है—एक सैनिक और दूसरा शैक्षिक। सैनिक अनुशासन बाहरी होता है और शैक्षिक अनुशासन भीतरी होता है। एक का लक्ष्य व्यक्ति के नियमों की पाबन्दी मात्र करवाना होता है; ये नियम किसी बाहरी सत्ता के बनाये हुए होते हैं। शैक्षिक अनुशासन का लक्ष्य बालक के चरित्र

का विकास होता है। शैक्षिक अनुशासन से बालक में आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आती है। वह जिन नियमों का पालन करता है वह उन्हें उचित नियम जानता है और अन्त में वह अपने बनाये हुए नियमों का पालन करने लगता है।

बालक के अनुशासन में दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—एक उसके चेतन मन पर प्रभाव डालती है और दूसरा उसके अचेतन मन पर प्रभाव डालती है। मनुष्य का अचेतन मन उसके चेतन मन से कहीं अधिक प्रबल होता है। जब बालक का चेतन मन एक तरह से प्रभावित होता है और उसका अचेतन मन दूसरी तरह से प्रभावित होता है तो उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व स्थापित हो जाता है। दण्ड और पुरस्कार बालक के चेतन मन को अनुशासन में रहने के लिए प्रभावित करते हैं; बालक की अनुकरण की प्रवृत्ति और निर्देश उसके अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। और जब पुरस्कार के प्रभाव तथा अनुकरण और निर्देश के प्रभाव में सामञ्जस्य रहता है तो अनुशासन की व्यवस्था ठीक बनी रहती है; अन्यथा अनुशासन में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण बालक के व्यक्तित्व को अनेक प्रकार की हानि होती है।

नवीन मनोविज्ञान का कथन है कि सहानुभूति के द्वारा हम बालक के आचरण में जितना सुधार कर सकते हैं उतना कठोर अनुशासन के द्वारा नहीं कर सकते। पर जब बालक के चरित्र-गठन में सहानुभूति की महत्ता दर्शायी जाती है तो अनुशासन को व्यर्थ नहीं माना जाता। बालकों के सच्चे अनुशासन में सहानुभूति भी एक प्रधान अंग है। जहाँ दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था से बालक के चेतन मन पर अधिकार जमाया जाता है, सहानुभूति के द्वारा उनके अचेतन मन पर अधिकार

जमाया जाता है। सहानुभूति का प्रभाव बालक के हृदय पर होता है।

कठोर अनुशासन के दुष्परिणाम

कठोर अनुशासन वह है जिसमें सहानुभूति का अभाव हो। इस प्रकार का अनुशासन बालक के चेतन मन को एक प्रकार से प्रभावित करता है और उसके अचेतन मन को दूसरे प्रकार से। कठोर अनुशासन में भय की प्रधानता होती है। भय के कारण बालक आज्ञाकारी बन जाता है। वह अनुशासक के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव भी प्रगट करता है। पर वास्तव में कठोर अनुशासक के प्रति घृणा का भाव रखता है। यह घृणा का भाव बालक को ज्ञात रहता है अथवा उसे ज्ञात नहीं रहता। यदि किसी बालक का पिता बड़ा ही कठोर हो, और वह स्वयं अपने सदाचार के लिए प्रसिद्ध हो, तो बालक चेतन मन से अपने पिता के प्रति श्रद्धा रखता है। वह उसे सब प्रकार से आदर का भाव दर्शाता है, किन्तु उसके अचेतन मन में पिता के प्रति घृणा का भाव रहता है। वह इस घृणा के भाव को स्वीकार नहीं करना चाहता। ऐसी स्थिति में बालक के मन में व्यक्तित्व का विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। बालक ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं कर पाता। वह दब्बू बना रह जाता है। जो बालक कठोर अनुशासन के प्रति अपने घृणा के भाव को स्वीकार करता है वह उद्दण्ड भले ही हो, विक्षिप्त अथवा निकम्मा नहीं होता। विक्षिप्त और निकम्मा वही बालक होता है जो कठोर अनुशासन के द्वारा अति सुशील बनाया गया हो। कठोर अनुशासन में रह

कर जो बालक सुशील होता है वह स्वयं अपने मन को नहीं जानता। उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा इतनी कुचल दी जाती है कि उसे किसी प्रकार का आत्मबोध होना संभव ही नहीं। ऐसे बालकों की हार्दिक इच्छाएँ उनकी विक्षिप्त अवस्थाओं में ही प्रकाशित होती हैं। इस प्रसंग में लेखक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

एक बार लेखक एक चाय की दुकान पर बैठा था। उसके सामने एक युवक भी बैठा था। इसका चेहरा पीला, आँखें धसी हुईं और शरीर दुबला पतला था। समीप बैठे रहने के कारण मैंने इस युवक से उसका परिचय पूछा। उसके कहने से ज्ञात हुआ कि वह युवक वही बालक है जो कि सात आठ वर्ष पूर्व पूर्ण स्वस्थ और प्रतिभाशाली बालकों में गिना जाता था। कुछ समय पूर्व वह कलकत्ते में नौकरी कर रहा था। वहाँ वह बीमार हो गया था और नौकरी छोड़ कर वह स्वास्थ्य सुधारने के लिए आया था। उसके कहने से यह भी पता चला कि वह एक बार अपनी परीक्षा में फेल हो गया था और इसके कारण उसे नौकरी करनी पड़ी थी। लेखक इस युवक के पिता को जानता है। युवक की मानसिक स्थिति का अन्दाज़ा लगा कर लेखक ने उसे अनायास कहा कि यदि आप स्वास्थ्य सुधारने के लिए नौकरी छोड़कर आये हैं तो आप अपने मामा के पास जाकर रहिये। वह युवक इस बात को सुनकर एकाएक प्रसन्न हो गया। उससे बातचीत करने से पता चला कि वह वास्तव में अपने घर से दूर रहना चाहता है।

इस युवक को इस समय यह चिन्ता त्रास दे रही थी कि उसके पिता उसके विषय में सदा चिन्तित रहा करते हैं। वह

उनके दुःख से दुःखी था। पिता बड़े ही विद्वान और लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति हैं। वे बड़े कड़े अनुशासक भी हैं। वे अपने पुत्रों को अपने जैसे ही प्रतिष्ठावान और विद्वान व्यक्ति बनाना चाहते हैं। पर जब उन्होंने अपने पुत्र में यह योग्यता न देखी तो वे निराश हो गए। वे अपने बालकों को दूसरे बालकों की संगति से अलग रखने की चेष्टा करते रहते हैं, ताकि किसी बालक की बुरी सोहबत में पड़ कर उनकी आदतें बिगड़ने न पायें। बालकों का पढ़ने-लिखने का समय बँधा हुआ है। सभी बालकों को मशीन के समान समय पर निश्चित काम में लग जाना पड़ता है। पर सभी प्रकार की सावधानी रखने पर भी बालकों में उस योग्यता का विकास न हुआ जिसे उनके पिता विकसित करना चाहते थे। वे अपने बालकों को सुशील बनाने में तो अवश्य समर्थ हुए, पर उनके अनुशासन ने उन्हें निकम्मा बना दिया।

उक्त युवक बीमारी की अवस्था में भी घर में नहीं रहना चाहता था। वह अपने चेतन मन से पिता के प्रति श्रद्धा रखता था; पर उसके अचेतन मनमें उसे अपने पिता के प्रति श्रद्धा न थी। इस युवक का छोटा भाई लेखक का विद्यार्थी रह चुका था। वह भी बड़ा सुशील और परिश्रमी बालक था। इस समय वह एक बड़े विद्यालय में डाक्टरी के लिए अध्ययन कर रहा है। उसके विषय में जब उसके भाई से समाचार पूछा गया तो एक विस्मय जनक घटना का पता चला। पिछली बार जब यह विद्यार्थी अपने पढ़ने के नगर से घर आ रहा था तो उसे रास्ते में रेल में आत्मविस्मृति हो गई। वह अपने घर के स्टेशन पर न उतर कर रेल में ही बैठा रहा। अंत में उसके किसी परिचित व्यक्ति ने कलकत्ते के पास के एक

स्टेशन पर उसे उतारा और वह आत्मविस्मृति की अवस्था में ही घर लाया गया। वह विद्यार्थी तीन चार महीने तक विक्षिप्त अवस्था में ही बना रहा।

यहां हम देखते हैं कि इस युवक का छोटा भाई भी घर में नहीं रहना चाहता है। जब उसे अनुशासन के कारण वरबस घर आना पड़ता है तो वह आत्मविस्मृति की शरण लेता है। कालेज की स्वतंत्रता और घर के अनुशासन में कितना अंतर है यह उस बालक का आंतरिक मन जानता था। बालक का अचेतन मन घर के वातावरण को घृणा की दृष्टि से देखता था; पर अपनी सुशीलता के कारण वह इसे स्वीकार नहीं करना चाहता था। इसी कारण बालक की विक्षिप्त अवस्था हुई।

उपर्युक्त दो उदाहरण इस वात को स्पष्ट करते हैं कि कठोर अनुशासन बालक के व्यक्तित्व को वनाता नहीं, किन्तु, बिगाड़ता है। जो पिता अपने आपको अधिक योग्य समझता है, उसीकी सन्तान निकम्मी हो जाती है। वह अपने बालकों की छोटी छोटी त्रुटियों को देख नहीं सकता। वह उन्हें बहुत डाँटता फटकारता रहता है। इससे बालकों का आत्म-प्रकाशन का उत्साह नष्ट हो जाता है। जिस बालक को भूल करने का अवसर नहीं मिलता, जो बालक भूल करने से अत्यधिक डरा करता है, वह संसार में कोई योग्य काम नहीं कर सकता। कठोर अनुशासन में रखा गया बालक यदि उद्दण्ड न हो, तो वह दब्बू, विक्षिप्त, रोगी और निकम्मा हो जाता है। अपने अनुभव से हम देखते हैं कि कितने ही ऐसे लोगों की सन्तान निकम्मी होती है जो स्वयं बड़े नियम के पालनेवाले होते हैं, जिन्हें अपने चरित्र के ऊपर गर्व रहता है और जो अपनी सन्तान को योग्य और चरित्रवान बनाना चाहते हैं।

हाल ही में लेखक को एक वयोवृद्ध व्यक्ति मिले। इनके बारह सन्तान हैं, जिनमें सात लड़कियाँ और पाँच लड़के हैं। पर उन्हें सदा यह दुःख सताता रहता है कि उनकी कोई भी सन्तान, विशेष कर उनके पुत्र उनका कहना नहीं मानते। अपने पुत्रों को उन्होंने ऊँची ऊँची शिक्षा दी, पर अब वे अपने पिता के पास ठहरना तक नहीं चाहते। पिता को अकेले ही रहना पड़ता है।

इन महाशय से बातचीत करने से पता चला कि उनका प्रत्येक पुत्र स्वेच्छाचारी है। वह मनमानी संगत में रहना चाहता है। पिता ने अपने पुत्रों को उनकी बुरी सोहबत के लिए बहुत डाँटा फटकारा, पर इसका असर उलटा ही हुआ। वे पिता को पागल समझने लगे। वास्तव में अब पिता एक प्रकार की विक्षिप्त अवस्था में ही हैं। यहाँ हम देखते हैं कि जब पिता का व्यक्तित्व प्रबल नहीं होता और वह अपनी सन्तान से अनुशासित होने की आशा करता है तो इसका परिणाम उलटा ही होता है। वे पिता की आज्ञा की किसी न किसी प्रकार अवहेलना करते हैं और उसके प्रति आदर भाव न दर्शाकर उसे पागल समझने लगते हैं।

स्वछन्दता के दुष्परिणाम

ऊपर कठोर अनुशासन के दुष्परिणाम दर्शाये गए हैं। इनसे कोई कोई पाठक गण यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बालकों को मनमानी करने देना उनके व्यक्तित्व विकास के लिए लाभकर होगा। कितने ही नवीन मनोविज्ञान का छिछला अध्ययन करने वाले लोग बालकों के स्वच्छन्द आचरण करने

के समर्थक हो जाते हैं; पर इस तरह भी हम बालकों के व्यक्तित्व को हानि पहुँचाते हैं। मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ जन्म से प्रबल रहती हैं। धीरे धीरे अनुभव के साथ उसमें दैविक गुण प्रदर्शित होते हैं। इन गुणों के विकसित होने में प्रौढ़ लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है। उन्हें बालकों को पथ-प्रदर्शन करना पड़ता है। यदि बालकों को हम भले-बुरे का ज्ञान न करावें, उन्हें कुमार्ग पर जाने से न रोकें, तो हम उन्हें पशु ही बनाए रखेंगे।

हमें सदा यह देखते रहना है कि बालक में हमारे उपदेश सुनने के लिए योग्यता है अथवा नहीं। जिस काम को करने की योग्यता बालक में नहीं उससे उस काम की आशा करना बालक के प्रति अन्याय करना है। बालक पर हम ठीक अनुशासन तभी रख सकते हैं, जब हम बालक की साधारण इच्छाओं को कुचल न डालें, तथा उनको तृप्त करने की चेष्टा करें, साथ ही साथ उसे आत्मनियंत्रण प्राप्त करने में सहायता दें।

स्वच्छन्द आचरण से बालक में चरित्रगठन होना संभव नहीं। संसार में सब से बड़ा बल चरित्रबल है। चरित्रबल प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी प्रबल इच्छाओं को वश में करके रखना सीखना पड़ता है।

मानसिक दृढ़ता इच्छाओं को वश में रखने से ही प्राप्त हो सकती है। यदि बालक को उसकी मनमानी बात करने दी जाय तो उसमें अपने आपका रोकने की शक्ति ही न आ सकेगी। यदि वह किसी व्यसन में पड़ गया तो उसमें आत्मसंयम का भाव जाग्रत होगा ही नहीं।

स्वच्छन्दतावाद से सामाजिक जीवन भी सम्भव नहीं। बालकों में मेलजोल रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक दूसरे बालकों के अधिकारों को स्वीकार करे। इस प्रकार का भाव बालक में अवस्था की वृद्धि के साथ साथ अपने आप उत्पन्न होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों को इसमें सहायता देना आवश्यक है।

बालकों के लाड़के दुष्परिणाम

बालकों के प्रति सहानुभूति का व्यवहार उनको लाड़ करने से पृथक् वस्तु है। प्रेम और सहानुभूति से बालक का जीवन विकसित होता है, लाड़ से बालक का जीवन नष्ट होता है। प्रेम की कसौटी त्याग और कष्ट होते हैं। जो व्यक्ति बालक को प्रेम करता है वह उसके भले के बारे में चिन्ता करता है, उसे खेल खेलना सिखाता है, उसके अनेक छोटे छोटे प्रश्नों का उत्तर देता है, वह पढ़ना लिखना चाहता है तो वह उसे स्वयं पढ़ाता लिखाता है, बीमार होने पर उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, यदि बालक को किसी वस्तु के खाने पीनें की इच्छा हो तो उसे खिलाता है। इस तरह बालकों को अनेक तरह से सुखी बनाने में उनके प्रति प्रेम व्यवहार प्रदर्शित होता है। लाड़ करना प्रेम करने से इस बात में पृथक है कि लाड़ करनेमें हम बालक को अपना एक खिलौना जैसा मान लेते हैं। उसके बिना हमसे रहा नहीं जाता। बालक हमारा मन बहलाने अथवा भोग की वस्तु बन जाता है। बालक अपने इस स्थान को शीघ्र समझ जाता है, अतएव वह फिर बड़ों पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। वह रो गाकर जैसा

चाहता है माता पिता से करवा कर रहता है। जो माता पिता बालक के इस प्रकार के नियन्त्रण में आ जाते हैं वे बालक की भारी हानि करते हैं।

लाड़ से पले बालक में कर्तव्य बुद्धि नहीं होती। उसकी आदत मुफ्तखोरी की हो जाती है। वह बड़े होनेपर अपने माता पिता की सेवा नहीं करता, वरन् उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता है। समाज के प्रति भी उसकी यही बुद्धि रहती है। वह सब लोगों से यही आशा करता है कि वे उसकी प्रशंसा करें। वह थोड़े काम करने पर भारी वेतन की आशा करता है। जब वह देखता है कि संसार के लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते और वह उतना वेतन नहीं पाता जितने की वह आशा करता है, तो वह समाज के लोगों को कोसने लगता है। वह समाज के लोगों को दुश्मन के रूप में देखता है। ऐसा व्यक्ति निराशावादी और निकम्मा होता है। दूसरों को कष्ट देने में ही उसे आत्म-संतोष होता है।

चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य की आवश्यकता

सुयोग्य अनुशासन के लिए बालक के चेतन और अचेतन मन की आवश्यकताओं में सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक है। बालक की इच्छाओं की तृप्ति बालक के अचेतन मन की आवश्यकता है; उसके चरित्र का विकास उसके चेतन मन की आवश्यकता है। चेतन मन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना कि अचेतन मन की आवश्यकताओं की पूर्ति।

जिस मनुष्य की वासनाएँ दलित रहती हैं वह ऊपर से भला पर भीतर से शक्ति हीन अथवा दुर्वासनाओं से भरा रहता है। प्रायः उसे अपने आप का ही ज्ञान नहीं रहता। वह अपने आप को अनेक प्रकार से धोखा देता है। पर जिस व्यक्ति की चेतन मन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, वह अपना जीवन पशुवत् बिताता है। पशु और मनुष्य के जीवन में इतना ही भेद है कि जहाँ मनुष्य आत्मनियंत्रण की योग्यता रखता है पशुओं में आत्म नियंत्रण की योग्यता नहीं रहती।

आधुनिक मनोविज्ञान की नई खोजें हमें यह दर्शा रही हैं कि मनुष्य की नैतिक भावनाओं की जड़ समाज के प्रचलित विचारों में नहीं है, उसकी जड़ मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में है। नैतिक व्यवहार से बालक की अवनति नहीं होती, वरन् उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। हाँ, इतना कहना आवश्यक है कि समय के पूर्व बालक में नैतिकता भरना उसके मानसिक विकास को आगे न बढ़ा कर रोक देना है।

नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार वही शिक्षा लाभ कारी होती है जिसे बालक का हृदय ग्रहण करता है; अर्थात् जो उसके अचेतन मन के अनुकूल होती है। इसके लिए बालक के चेतन मन को ही शिक्षित बनाना पर्याप्त नहीं है, बालक के अचेतन मन को भी शिक्षित बनाना आवश्यक है। जब तक बालक की चेतन मन की शिक्षा और अचेतन मन की भावनाओं में समता स्थापित नहीं होती तब तक किसी प्रकार का नैतिक आदेश अथवा अनुशासन बालक के लिए लाभ दायक नहीं होता। बालक का बाहरी मन बाहरी अनुशासन से बस में किया जा सकता है, पर भीतरी मनको बस में करने के लिए प्रेम और सहानुभूति की आवश्यकता होती है।

बालक के ऊपर योग्य अनुशासन रखने के लिए योग्य अविभावक अथवा शिक्षक की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति के मन की ग्रन्थियाँ सुलझी नहीं हैं, वह योग्य अनुशासक नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति बालक के मन में उसी प्रकार की जटिलताएँ उत्पन्न कर देता है जैसी कि उसके मन में रहती हैं।

अठारहवाँ प्रकरण

बालकों की धर्मशिक्षा

धर्मशिक्षा के प्रति उदासीनता

आधुनिक काल में संसार में साम्यवादी विचारधारा का प्रवाह बड़ा ही प्रबल है। साम्यवादी विचारकों के अनुसार धर्म अन्ध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम्यवादी विचारक बेकोनिन महाशय का कथन है कि धर्म जनता के लिए अफीम है, जिसे खाकर वह चेतनाहीन हो जाती है। अतएव वर्तमान समय में धर्म प्रचार और धर्मशिक्षा का तिरस्कार होना स्वाभाविक है। भारतवर्ष में धर्मशिक्षा में और भी कठिनाइयाँ हैं। यहाँ प्रायः संसार के सभी धर्म के लोग पाये जाते हैं। फिर हिन्दू और मुसलमान दो वर्ग ऐसे हैं कि जिनके धर्म विश्वासों और उन पर आधारित सामाजिक रूढ़ियों में अनेक प्रकार का विरोध है। इनके कारण भारतवर्ष में सदा धार्मिक झगड़े और सामाजिक दंगे होते रहते हैं। ये दंगे भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति में बाधक होगये हैं। सामाज के हितचिंतक और अगुआ लोग अब इस निष्कर्ष पर आ रहे हैं कि किसी न किसी प्रकार इन झगड़ों का अन्त किया जाय। देशकी स्वतंत्रता के इच्छुक लोग इस देश को धर्म भावनाओं से मुक्त करना चाहते हैं। अतएव वे राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली में धर्मशिक्षा को कोई स्थान नहीं देना चाहते।

नवीन मनोविज्ञान और धर्मशिक्षा

यहाँ हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्मशिक्षा पर विचार करना है।

साधारणतः विज्ञान प्रत्येक प्रकार के अन्धविश्वास का विरोधी है, और जहाँ तक धर्मशिक्षा में अन्धविश्वास को स्थान दिया जाता है नवीन मनोविज्ञान अवश्य उसका विरोध करता है। मनुष्य अपनी उन्नति और दुःख का विनाश ज्ञान की वृद्धि से कर सकता है, न कि अज्ञान की वृद्धि से।

नवीन मनोविज्ञान का प्रारम्भ जड़वाद से हुआ। किन्तु, आधुनिककाल में नवीन मनोविज्ञान ने जो उन्नति की है और जिस ओर उसकी प्रगति हो रही है इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि नवीन मनोविज्ञान जड़वाद की शृङ्खला से मुक्त हो रहा है। डाक्टर होमरलेन, एस० ए० नील, युंग और हेडफील्ड महाशयों की प्रगति इसी ओर दिखाई पड़ती है। होमरलेन और स्वामी विवेकानन्द में आपस में मिलन हुआ था और स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव उनके विचारों पर पर्याप्त पड़ा। डाक्टर होमरलेन के विचार जड़वाद से मुक्त ही नहीं, उसके विरोधी हैं। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा जिस मत को स्थिर किया और जिन विचारों का उन्होंने प्रचार किया वे वैदान्तिक विचार के समान हैं। यदि व्यावहारिक वेदान्त हम किसी व्यक्ति के जीवन में पाते हैं तो होमरलेन के जीवन में।

लार्ड लिटन और नील महाशयों ने उनका अनुकरण किया। लार्ड लिटन ने शिक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रयोग नहीं किया, पर उनके विचार शिक्षाशास्त्र की मौलिक निधि हैं। उनकी पुस्तक न्यू ट्रेज़र बालकों के प्रति व्यवहार के

विषय में एक नवीन दृष्टिकोण को हमारे समक्ष रखती है। बालक का जीवन दैविक जीवन है, और उसके प्रति हमें श्रद्धा और आदर का भाव रखना आवश्यक है। बालक को, हम उसके प्रति प्रेम और आदर का भाव दर्शाकर जितना सुधार सकते हैं, उसे बरबस नहीं सुधार सकते। यह विचार लार्ड लिटन महाशय की सम्पूर्ण पुस्तक में पाया जाता है।

जिस प्रकार लार्ड लिटन होमरलेन महाशय से प्रभावित हुए उसी तरह नील महाशय भी उनके विचारों से प्रभावित हुए। उनके सोमर्सहिल स्कूल में जो प्रयोग हो रहा है वह शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्व का है। जिस तरह होमरलेन महाशय प्रेम-चिकित्सा के द्वारा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोगों का उपचार करते थे, उसी प्रकार नील महाशय भी अपने स्कूल में बालकों की अपराध की मनोवृत्ति का उपचार प्रेम-चिकित्सा के द्वारा करते हैं। हमने पिछले प्रकरणों में उनके प्रयोगों का उल्लेख किया है। प्रेम-चिकित्सा वास्तव में धर्मचिकित्सा है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा और दूसरे महात्मा लोगों ने भी इसी चिकित्सा के द्वारा कितने अपराधियों की मनोवृत्ति में चमत्कारिक परिवर्तन किये हैं। अंगुलिमाल डाकू को बुद्ध भगवान् ने अर्हत में कैसे परिणत कर दिया यह सभी विद्वानों को ज्ञात है। इसी तरह सप्तऋषियों ने बाल्मीकि डाकू को ऋषि कैसे बनाया, यह भारतवर्ष में सभी विद्वान् लोग जानते हैं। उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन प्रेम के द्वारा ही किया गया। अपराधी बालकों की मनोवृत्ति में इसी तरह प्रेम के द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रम-चिकित्सा आध्यात्मिक चिकित्सा है। इसे योगसूत्र में मैत्री भावना के नाम से संकेत किया है। योगसूत्र और बुद्ध

भगवान् के आदेशों में मैत्रीभावना की जितनी महत्ता दर्शायी गई है, कहीं नहीं दर्शायी गई। प्रत्येक धर्म का सार भाग यही प्रेमभावना है। प्राणिमात्र से प्रेम व्यवहार रखना ही धर्म मार्ग पर चलना है*।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नवीन मनोविज्ञान धर्म-विरोधी नहीं, उसकी प्रगति व्यावहारिक आध्यात्मवाद की ओर दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। किन्तु, प्रत्येक नवीन मनोविज्ञान का पण्डित धर्म शिक्षा का विरोधी है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति धर्म शिक्षक बनने की चेष्टा नहीं करते। धर्माचरण और धर्म प्रचार दो पृथक वस्तु हैं। स्कूल और कालेजों में जो धर्म-शिक्षा होती है, उससे धर्म प्रचार होना संभव है, पर व्यक्ति का धार्मिक बनाया जाना संभव नहीं। कितने धर्म शिक्षकों की शिक्षा से धर्म के प्रति श्रद्धा के वदले घृणा उत्पन्न हो जाती है। भारत वर्ष के वतमान सभी विद्यालयों में जहाँ भी धर्म शिक्षा दी जाती है बालकों में इस शिक्षा के प्रति उदासीनता पाई जाती है। कहीं कहीं तो विद्यार्थी गण धर्म शिक्षक की खिल्ली उड़ाते हैं। यदि धर्म शिक्षक कठोरता का व्यवहार करे तो उसके प्रतिकार स्वरूप बालकगण शिक्षक का अपमान करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। आधुनिक काल में धर्म शिक्षा जिन हेतुओं से दी जाती है वे धार्मिक हेतु नहीं है, अपितु अधार्मिक हैं। साम्प्रदायिकता और साम्राज्यवाद से प्रेरित होकर जो धर्म शिक्षा दी जा रही है वह धर्म शिक्षा नहीं, अधर्म शिक्षा है।

---

* मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।—विदुर नीति
पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम को, पढ़े से पण्डित होय।—कबीर

इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार करना बालकों की दैवी भावनाओं को कलुषित करना है।

धर्म शिक्षा जब किसी विशेष समय पर अथवा किसी विशेष रूप से दी जाती है तो वह धर्म शिक्षा नहीं रहती। या तो मनुष्य को धर्म की आवश्यकता ही नहीं, अथवा उसे धर्म की आवश्यकता हर समय है। बालक की इस प्रकार की धर्म शिक्षा प्रतिक्षण होनी चाहिये। उसे हर एक विषय का अध्ययन इसी प्रकार कराया जाना चाहिये कि वह उससे धार्मिकता की वृद्धि करे। वास्तव में सभी कामों को धर्म का काम माना जाना चाहिये। हम जो कुछ करते हैं वह धार्मिक कार्य है और बालक जो भी शिक्षा पाते हैं वह धार्मिक शिक्षा है। शिक्षकों को जब यह भावना प्रेरित करती है तो बालकों के जीवन में वे बुराइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं जो बरबस धार्मिक शिक्षा देने से उत्पन्न हो जाती हैं।

नवीन मनोविज्ञान ने धार्मिक शिक्षा के अनेक कुपरिणाम दर्शाये हैं। पागलपन, कुपच, जटिल शारीरिक रोग, व्यभिचार की मनोवृत्ति आदि रोगों की उत्पत्ति बरबस ठूँसी गई धार्मिक भावनाओं से उत्पन्न होती है। लार्ड लिटन ने अनेक ऐसी बीमारियों का उल्लेख किया है जिनका उदय बरबस धार्मिक शिक्षा से अथवा आन्तरिक मन के प्रतिकूल धर्म-शिक्षा देने से हुआ था। नवीन मनोविज्ञान का कथन है कि मनुष्य की अनेक मानसिक बीमारियों का उदय उसकी धर्म सम्बन्धी भावनाओं और काम भावनाओं से होता है। यदि बालकों को इन दोनों क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली योग्य शिक्षा दी जाय तो संसार में पागलों की ही कमी न हो, वरन् दूसरे प्रकार के रोगियों की भी कमी हो जाय।

धर्म-विरोधी देशों की धर्मशिक्षा

नील महाशय का कथन है कि बालकों की भलाई की दृष्टि से सच्ची धर्म शिक्षा रूस में होती है, जहाँ जनता में सभी प्रकार के धर्म प्रचार की मुमानियत है। बालकों के जीवन में आपस में प्रेम की वृद्धि करना ही उन्हें सच्ची धर्म शिक्षा देना है। यदि बालक एक दूसरे की सहायता करते हैं, एक दूसरे को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, यदि वे अपना काम अपने हाथ से करते हैं, यदि वे दूसरे की सहायता अथवा सेवा की अपेक्षा नहीं रखते, यदि उनमें स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति है, यदि उनमें आत्मविश्वास है, तो हमें उन्हे धार्मिक समझना चाहिये। दूसरे पर आश्रित रहना, उनके परिश्रम को चुराने का भाव अधर्मक है। इससे आपस में ईर्षा और द्वेष की वृद्धि होती है, प्रेम का विनाश होता है। ईर्षा और द्वेष के वातावरण में धार्मिक आचरण नष्ट हो जाता है।

रूस में धनी और गरीब बालकों के शिक्षालय एक ही हैं। बालकों में न जात-पाँत और न धनी और गरीब का भेद भाव है। सभी वालकों को एक सी शिक्षा दी जाती है। सभी को हाथ से काम करना पड़ता है। बालकगण मनुष्य को मनुष्य रूप से देखते हैं। वे आपस में एक दूसरे को प्रेम करते और आदर करते हैं। शिक्षकगण बालकों में मारपीट कर अपने विचार नहीं ठूँसते। इसके परिणाम स्वरूप उनके मनमें वे अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न नहीं होतीं जो अन्यथा उत्पन्न हो जाती हैं*।

---

* कांग्रेस की बनाई गई नई शिक्षा-योजना में धर्म-शिक्षा को स्थान नहीं दिया गया। इसके लिए बहुत से लोग इस योजना की

आधुनिक काल के प्रगतशील धार्मिक विचारक रूस के जीवन और वहाँ की शिक्षा पद्धति के गुणों को देख रहे हैं और उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। नील महाशय इस प्रकार की प्रशंसा करनेवालों में प्रमुख हैं। इंग्लैंड की एक प्रमुख धर्म संस्था के अधिकारी ने यह स्वीकार किया है कि रूस में धार्मिक कहे जानेवाले देशों की अपेक्षा कहीं अधिक धार्मिकता पाई जाती है।

धर्म-शिक्षा के उपकरण

आधुनिक काल में वही धर्म-शिक्षा टिक सकती है जो विज्ञान विरोधी न हो। इस प्रकार की शिक्षा प्रेम शिक्षा है। बालकगण में प्रेम-व्यवहार बढ़ाना, उन्हें सच्चा धार्मिक बनाना है। इस प्रकार के प्रेम-व्यवहार के लिए आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता है। यह बालकों को सिखाना चाहिए। पर इसे सिखाते समय उनके मानसिक विकास को ध्यान में रखना आवश्यक है। एकाएक बालक को संयमी व्यक्ति नहीं बनाया जा सकता। आत्म-नियन्त्रण की शक्ति की वृद्धि धीरे-धीरे होती है।

बालकगण में सच्ची धार्मिकता की वृद्धि शिक्षकों के आचरण से आती है। धर्म-शिक्षा से अनर्थ प्रायः इसलिए होता है कि धर्म-शिक्षकों का आचरण उनकी मौखिक शिक्षा के प्रति-

---

आलोचना करते हैं। किन्तु, यदि हम संसार के प्रगतिशील शिक्षा वैज्ञानिकों के विचारों को जाने, तो हम कांग्रेस की योजना को इस सम्बन्ध में दोषपूर्ण नहीं मानेंगे। इस योजना में धार्मिक आचरण का ध्यान रखा गया है। जिस शिक्षा से बालकों में मानवता की वृद्धि हो धार्मिक शिक्षा कही जा सकती है।

कूल होता है। उनका वाह्य आचरण भला भी हो, जब तक उनके विचार भले नहीं होते, वे अपने धर्मोपदेश से बालकों में अधार्मिकता का ही प्रचार करते हैं। हमारी आन्तरिक भावनाएँ, चाहे वे हमें ज्ञात हो अथवा न ज्ञात हों, बालकों के मन में प्रवेश कर जाती हैं। उनके व्यक्तित्व और आचरण पर जितना प्रभाव शिक्षकों की अज्ञात भावनाओं का पड़ता है उतना प्रकाशित भावनाओं और उपदेशों का नहीं पड़ता। अतएव प्रत्येक शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह अपने भावों को शुद्ध और प्रेम-पूर्ण बनावे। यदि शिक्षक का हृदय शुद्ध और धार्मिक हो तो वह बालकों के जीवन को अपने आप शुद्ध और धार्मिक बना देगा।

लेखक की दृष्टि से प्रत्येक शिक्षक धर्म-शिक्षक है। जिस शिक्षा से मनुष्य अपने आप का ज्ञान प्राप्त करे और स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करे, वही सच्ची धर्मशिक्षा है। सच्ची धार्मिकता आत्मा के वृहत् रूप का ज्ञान करने में है। जब शिक्षक में स्वयं आत्मज्ञान नहीं होता और जब उसकी मनोवृत्ति दासता की होती है तो प्रति-निर्देश के द्वारा वह बालकों में अच्छे विचारों के उदय करने के बदले बुरे विचारों की वृद्धि करता है। धर्म-उपदेश वही व्यक्ति कर सकता है जो त्याग, तपस्या और सद्भाव में सामान्य व्यक्तियों से ऊँचा हो।

उन्नीसवाँ प्रकरण

बालक की शिक्षा और आत्मोद्धार

बालक के प्रति प्रेम से मानसिक-लाभ

बालकों के प्रति प्रेम प्रदर्शन और उनका लालन पालन तथा उनकी शिक्षा ठीक रूप से करना प्रौढ़लोगों के मानसिक लाभ की दृष्टि से भी महत्व का कार्य है। जो अध्यात्मिक लाभ किसी भी व्यक्ति को बालकों की सेवा तथा उनकी शिक्षा से होता है, दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। ऐसे तो प्राणिमात्र की सेवा मानव जीवन को पवित्र बनाती है, किन्तु बालकों की सेवा इसमें भी विशेष महत्व की है। जब हजरत ईसा को राह में जाते हुए देख बालक उसके समीप दौड़कर आने लगे और ईसा के भक्तगण उन्हें रोकने लगे तो ईसा ने उन्हें बालकों को रोकने से मना किया। उसने अपने अनुयाइयों से कहा "छोटे बालकों को मेरे पास आने दो, उन्हें रोको मत क्योंकि वे ही स्वर्गीय आनंद का उपभोग कर सकते हैं।" कविवर वर्ड्सवर्थ ने बालजीवन स्वर्गीय आनंद का जीवन कहा है। जितनी सरलता बालक में होती है, प्रौढ व्यक्ति में होना संभव नहीं। प्रौढ़ व्यक्ति सदा अपने आपको धोखा देता रहता है, बालक में आत्मवञ्चना की आदत नहीं रहती। अतएव जहाँ प्रौढ व्यक्तियों के जीवन में भीतरी शान्ति का अभाव रहता है, बालक के जीवन में इस प्रकार की अशान्ति नहीं रहती।

उसके सभी दुःख सुख बाहरी होते हैं। यही कारण है कि जब हम बालक के समीप जाते हैं, अथवा उनकी सेवा में दत्तचित्त होते हैं, तो हम स्वयं सरल चित्त हो जाते हैं, और दुर्लभ आनंद को प्राप्त करते हैं। *

प्रत्येक बालक कृष्ण भगवान का प्रतीक है, और उसकी भली भाँति से सेवा करना बालकृष्ण की उपासना करना है। बालक का भलीभाँति लालन-पालन करना एक धार्मिक कार्य है। जो व्यक्ति इसका पालन करता है वह आत्म साक्षात्कार करने की तैयारी करता है। मातापिता और शिक्षक दोनों का ही इससे कल्याण होता है। हमारी बहुत-सी दुर्वासनाएँ जो अन्यथा हमारे मनमें बनी रहती हैं बालकृष्ण की उपासना से अर्थात् बालकों की सेवा करने से नष्ट हो जाती हैं।

बालकों के प्रेम से काम और क्रोध का विनाश

जो माता-पिता अपने बालकों की भलीभाँति से सेवा करते हैं वे कामवासना के ऊपर विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। कामवासना के तीन अङ्ग हैं, एक दाम्पत्य प्रेम, दूसरा विषय इच्छा और तीसरा सन्तान पालने की भावना। जब किसी व्यक्ति को सन्तान नहीं होती तो उसकी काम-भावना पहले दो अङ्गों तक ही सीमित रह जाती है। दाम्पत्य-प्रेम के नष्ट होने पर वह प्रबल विषय इच्छा का रूप धारण कर लेती

---

* जब व्यास जी का जीवन शुष्क वेदान्त चर्चा से निरानंद हो गया तो अपनें जीवन में रस लाने के लिए उन्हें भगवान कृष्ण के बालजीवन की गाथा गानी पड़ी। इस प्रकार उनके नीरस जीवन में फिर आनंद का श्रोत बहने लगा।

है। सन्तान उत्पत्ति के पश्चात् दाम्पत्य-प्रेम सन्तान के प्रेम में परिणत हो जाता है और विषयभोग की इच्छा की शक्ति भी सन्तान की सेवा में प्रकाशित होने लगती है। इस तरह काम-वासना का गृहस्थ जीवन में शोध होता है। जो व्यक्ति सन्तान की वृद्धि अथवा उनकी सेवा को झंझट मानते हैं, और इसके कारण सन्तान-निग्रह के अनेक कृत्रिम उपाय काम में लाते हैं, उनकी भोगेच्छा पाशविक अवस्था में ही बनी रहती है।

जिस प्रकार कामवासना की निवृत्ति सन्तान की सेवा से होती है, इसी तरह क्रोध का विनाश भी सन्तान के प्रति प्रेम की वृद्धि से होता है। जिन लोगों को बालकों के लालन-पालन का भार नहीं लेना पड़ता, उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। यदि वे किसी प्रकार अपने चिड़चिड़ेपन को प्रकाशित न भी करे तो भी उनका आनन्दरहित जीवन उनके व्यवहारों से प्रत्यक्ष हो जाता है। क्रोध की जड़ आंतरिक असन्तोष है। आंतरिक शान्ति प्रेम के वातावरण में ही अनुभव होती है। प्रेम क्रोध का विनाशक है। बालक अनेक प्रकार की भूलें करते हैं; उनकी इच्छाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। जब हम उनकी भूलों को क्षमा करते हैं और उनकी इच्छाओं को तृप्त करने की चेष्टा करते हैं तो हममें सहन शीलता का भाव आजाता है। इस प्रकार बालकों की सेवा करना एक प्रकार की ट्रेनिंग है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

बालक में अचेतन मन का आरोपण

नवीन मनोविज्ञान का यह अटल सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसे हम प्यार करते हैं अथवा जिससे हम घृणा करते हैं,

हमारे आन्तरिक स्वभाव का मूर्तीकरण मात्र है। युंग महाशय के कथनानुसार जिस स्त्री को पुरुष प्यार करता है, वह उसके हृदय की छायामात्र है। इसी तरह प्रत्येक स्त्री किसी पुरुष को प्यार करते समय अपने आन्तरिक स्वत्व को ही प्यार करती है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक बालक माता-पिता के आन्तरिक मन का मूर्तिमान स्वरूप है। बालक में हम अपने आपको ही पाते हैं। माता पिताओं का भीतरी मन जैसा होता है, उनके बालक भी वैसे ही होते हैं।

देखा गया है कि किसी शिष्ट पिता का बालक बड़ा उद्दण्ड होता है ; विद्वान का बालक मूर्ख तथा कार्यशील का बालक निकम्मा होता है। यदि हम इसका मनोवैज्ञानिक कारण देखें तो यही पावेंगे कि इन लोगों के आन्तरिक मन वैसे ही हैं जैसे कि उनकी सन्तान को हम देखते हैं। मनुष्य का बाहरी मन शिष्ट, विद्वान और उद्योगी होने पर भी उसका भीतरी मन ठीक इसके विपरीत हो सकता है। बालक जितना हमारे आन्तरिक मन से प्रभावित होता है, बाहरी मन से प्रभावित नहीं होता। अतएव बालक में हमारे वे गुण नहीं पाये जाते जो हमारे ज्ञात व्यक्तित्व में रहते हैं, किन्तु इसमें वे गुण आ जाते हैं जो हमारे अदृष्य व्यक्तित्व में उपस्थित रहते हैं। इस दृष्टि से यदि हम बालक की शिक्षा को देखें तो बालक की शिक्षा में आत्मशिक्षा ही पावेंगे।

प्रत्येक मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार करने के लिए अपनी पुनः शिक्षा करनी पड़ती है। मनोविश्लेषण विज्ञान ने आत्म-कल्याण के लिए इस पुनः शिक्षा का बड़ा ही महत्व दर्शाया है। यह शिक्षा अपने बालपन की शिक्षा है। कितने ही मनुष्य-

का चेतन मन बड़ा ही विवेकी और विद्वान होता है पर उनका अचेतन मन ठीक इसका उलटा होता है। चेतन मन सिद्धान्त वादी होता है और अचेतन मन अशिक्षित रहता है। ऐसी अवस्था में दोनों मन में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जब तक मनुष्य अपने चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर लेता उसके जीवन में सुख और शान्ति नहीं रहती। इसके लिए उसे आत्म-शिक्षा देनी पड़ती है। अपने बालमन को शिक्षित बनाकर ही मनुष्य सुखी हो सकता है।

अपने बाल-मन की शिक्षा कार्य बालक की शिक्षा के कार्य के समान है। जो व्यक्ति पहले कार्य को ठीक से करता है वह दूसरे को भी ठीक से कर सकता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति बालकों की शिक्षा भली भाँति से करता है वह अपने आपको पुनः शिक्षा दे सकने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। वास्तव में बालक की शिक्षा से अपनी ही आत्म-शिक्षा होती है। बालक में हम अपना आन्तरिक मन आरोपित कर देते हैं।

युंग महाशय का कथन है कि जब कोई मनोविश्लेषक अपने रोगी के मनोविश्लेषण में सफल होता है और इसके परिणाम स्वरूप उसकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन करता है, तो वह साथ ही साथ अपने आपका भी मनोविश्लेषण करता है और इसके परिणाम स्वरूप वह एक नया व्यक्ति बन जाता है। मनोविश्लेषक को अपने रोगी से अपने आपको आत्मसात करना पड़ता है, तभी उसकी मनोविश्लेषक चिकित्सा सफल होती है। जिस प्रकार वह रोगी से आत्म-स्वीकृति कराना चाहता है; उसी तरह की आत्म-स्वीकृति उसे अपने

आप भी करनी पड़ती है। इस तरह रोगी के उद्धार के साथ साथ मनोविश्लेषक का भी आत्मोद्धार होता है।*

जिस तरह मनोविश्लेषक रोगी की चिकित्सा से अपने आप में परिवर्तन करता है, उसे आत्मज्ञान होता है इसी तरह प्रत्येक माता पिता अथवा शिक्षक को बालकों का भलीभाँति लालन पालन करने अथवा उनकी शिक्षा देने से आत्मोद्धार होता है और उनका आत्मज्ञान बढ़ता है। बालक की शिक्षा वहीं तक भलीभाँति होती है जहाँ तक कि शिक्षक का अचेतन मन बालक में अपने आपको पा लेता है। जहाँ तक बालक के साथ प्रेम है और आत्मसात का भाव है, वहीं तक शिक्षा बालक को और माता पिता तथा शिक्षक को लाभकारी होती है। जब आत्मसात का भाव टूट जाता है तो न शिक्षा का कार्य अच्छी तरह होता है और न उससे शिक्षक का कोई लाभ ही होता है।

* It is accordingly, too, from the therapeutic standpoint a preliminary condition that the psychologist accept this dialectic principle equally as binding. He does not analyse an object at a theoretical distance, but is quite as much in the analysis as the patient. Both sides are mutually influenced in the treatment, and "the meeting of two personalities in like the mixing of two different chemical substances ; if a reaction occurs at all, both are transformed. In the field of dialectic procedure the the physician must step out of his anonymity and give an account of himself, exactly as he demands of his patient.—

Jacobi,—*Psychology of Jung*, P.68

बालकों से प्रेम करना अपने आपसे ही प्रेम करना है। जिन व्यक्तियों में अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता, अर्थात् जिनके चेतन मन और अचेतन मन में एकता अथवा समरसता स्थापित रहती है वे बालक को प्रेम कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति बालक के कामों को देखकर प्रसन्न होते हैं। उसकी उद्दण्डता उन्हें परेशान नहीं करती। वे उसकी भूलों पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना कि उसकी योग्यताओं पर देते हैं। इसके प्रतिकूल जिन व्यक्तियों के मन में अनेक प्रकार की मानसिक झंझटें रहती हैं, जो अपने आपसे घृणा करते रहते हैं, जो अपनी पाशविक वासनाओं को कठोर नियंत्रण में रखते हैं, अथवा कुचल दिये हैं, वे बालकों से सदा असन्तुष्ट रहते हैं। उन्हें बालकों के साथ रहना अच्छा नहीं लगता*। वे उनके जीवन में कोई भी मौलिकता नहीं देखते। वर्ड्सवर्थ जैसे कवियों का कथन उन्हें कोरा प्रलापमात्र दिखाई देता है। ऐसे व्यक्तियों से बालक डरते हैं। वे उनके समीप नहीं जाते। यदि ऐसे व्यक्तियों को बालकों की शिक्षा का कार्य करना पड़े तो वे बालकों का कोई मौलिक लाभ नहीं करते। वे उन्हें प्रोत्साहित न करके हतोत्साह करते हैं। इस तरह वे उनको मानो अपना प्रत्यक्ष

---

* Our guidance of children is subjectively a guidence of ourselves. We unconsciously identify ourselves with children, and the child we dislike most is always the child who is likest to ourselves. We hate in others what we hate in ourselves. And because each of us is a self-hater, the children get the result in cuffs and blows, and prohibitions and moralisings.

—A. S. Nill: *The Problem Child*. P. 13.

शत्रु बना लेते हैं, ;अथवा उनके व्यक्तित्व को कुचल डालते हैं।

बाल-सेवा की धार्मिकता

बाल-सेवा की आत्मोद्धार में महत्ता जान कर जो व्यक्ति उसे धर्म बुद्धि से करते हैं वे अपने आपको सुखी बनाते हैं, और बालकों में उन दैविक गुणों को विकसित करते हैं जो-कि उन्हें संसार में पूजित कराते हैं। बालक जितना छोटा होता है उतना ही उसकी सेवा लालन पालन करना व शिक्षा देना कठिन होता है। किन्तु शिशु के लालन पालन से प्रौढ़ व्यक्तियों को जो मानसिक ट्रेनिंग मिलती है वह बड़े बालकों के लालन पालन से नहीं मिलती।

जो व्यक्ति बालकों के लालन पालन और शिक्षा के कार्य में सफल होता है, वह आत्म-शिक्षा में भी सफल होता है। बालकों की शिक्षा के कार्य से ही वह अपने अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है। प्रसन्नता और मनोयोग के साथ बालक की सेवा करने से हमारे जीवन की अनेक झंझटें अपने आप सुलझ जाती हैं। हमारे चरित्र के अनेक दोषों की जड़ इन्हीं मानसिक झंझटों में रहती है। इन झंझटों का हमें ज्ञान नहीं रहता; अतएव हम अपने चरित्र के दोषों को जानकर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाते। हमारे आंतरिक मन में गन्दगी रहने के कारण अपना आचरण सुधारने का हमारा प्रयास विकल होता है। बालकों की लगन के साथ सेवा करने से हमारे अदृश्य मन की झंझटें अपने आप नष्ट हो जाती हैं। उनके नष्ट करने के लिए न तो उनके जानने की

आवश्यकता होती है, और न किसी प्रकार के उपचार की।

शिशु को बालकृष्ण का स्वरूप जानकर उसकी प्रेम के साथ सेवा करना अपने आप को पुनीत बनाना है। गृहस्थ जीवन में आत्मसाक्षातकार करने का यह सबसे सरल उपाय है। इसी के द्वारा हम अपने आपको वास्तव में शिक्षित बनाते हैं, अर्थात् अपने हृदय को परिवर्तित करते हैं और इसके द्वारा पूर्णता की प्राप्ति करते हैं।

ग्रन्थ सूची

1. Homer Lane : *Talks ta Parents and Teachers.*
2. E, T. Bazeley : *Homer Lane and the Little Common Wealth.*
3. Lytton : *New Treasure, A Study of the Psychology of Love.*
4. A. S. Neill : *1. The Problem Parent.*
   2. The Problem Child.
   3. That Dreadful School.
5. Crichton Miller : *1. Psycho.analysis and Its Derivatives.*
   2. The New Psycholagy and the Teacher.
6, Anna Freud : *Psy cho-analysis for Teachers.*
7. Green : *Psycho-analysis in the Class-room.*
8. Flugel : *The Psycho-analytic Study o f the Family.*
9. W. Lay : *The Child's Unconscious Mind.*
10. Healy : *Mental Conflict and Misconduct.*
11. Evans : *Problem of the Nervrus child,*
12. Goddard : *Juvenile Delinquency.*
13. Cyril Burt : *The Young Delinquent.*
14. Osker Pfister : *1. The Psycho-analytic Method.*
   2. Psycho-analysis in the Service of Education.
15. Adler : *Individual Psychology.*

16. Sigmond Freud : *1 Introductory Liectures on Psycho-analysis.*

2 Psycho-pathology of Everyday Life.

17. Norman Mac Munn : *The Child's Pāth to Freedom.*

18. Chella Hankin : *The Jung Analysis and Eduction.*

19. Rajaram Shastri : मन के भेद।

02. L. R. Shukla : १. नवीन मनोविज्ञान।

२. बाल-मनोविज्ञान।

३. बाल-मनोविकास।